दीपावली
सन् ६७ ई०
वर्ष २ अङ्क १

दी
सन
व

संस्थापक—

अर्वाचीन एवं प्राचीन
ज्ञानकी प्रतिनिधि,
पुरुषार्थ-प्रतिपादक
प्रसन्नगम्भीर

[हिन्दी-अंग्रेजी संयुक्त]
पत्रिका

वर्ष—२ अङ्क १
दीपावली
नवम्बर, ६७ ई०

सम्पादक—

वार्षिक मूल्य—चार रुपये मात्र
एक प्रति—सवा रुपया मात्र

ब्र० प्रेमानन्द 'दादा'
विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

सम्पादक—
आनन्दकानन, सीके. ३६/२० वाराणसी—१

व्यवस्थापक—
सत्साहित्यप्रकाशनट्रस्ट 'विपुल' २८/१६
रिजरोड, बम्बई—६

चिन्तामणि

[दीपावली, नवम्बर सन् ६७ ई०]
सम्वत् २०२४ वि०

★ विषय-क्रम

CHINTAMANI

Edited by Shree Krishna Dutt Bhatt

CONTENTS

० ० ०

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवघ्न्या ॥

मैं आप लोगोंमें सहृदयता, मानसिक पवित्रता और राग-द्वेषराहित्यकी प्रतिष्ठा करता हूँ । जैसे अवध्य गाय अपने छोटे-से बछड़ेसे स्नेह करती है, वैसे ही आप सब परस्पर एक दूसरेसे प्रेमपूर्ण व्यवहार करें ।

दीपावलि वर्ष-२ अङ्क-१
नवम्बर, १९६७

आत्मदेव

ॐ ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति, य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ।।

[ऋ० मं० १ सू० १६४ ऋ० ३९]

अविनाशी, परिपूर्ण, सर्वाधिष्ठान, आकाशवत् व्यापक, सर्वाधार, निरतिशय श्रेष्ठ आत्मामें ही सम्पूर्ण ऋचाओंका परम तात्पर्य है। सभी शरीर उसीकी अर्चा-पूजामें लगे हुए हैं। सारी इन्द्रियों और देवता उसमें ही अध्यस्त हैं। जिसने उस परम सत्य आत्मदेवको नहीं जाना उसका जीना और पढ़ना-लिखना भी व्यर्थ है; और जिसने उसको ठीक-ठीक जान लिया वे जन्म-मरण, गमनागमन, रागद्वेष, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे मुक्त होकर अपने निष्क्रिय स्वरूपमें सर्वदा स्थित रहते हैं।

निरुक्तने इस मन्त्रकी तीन व्याख्या की है। अधियज्ञ पक्षमें ओंकार अधिदैव पक्षमें आदित्य, अध्यात्मपक्षमें जीवात्मा। अधियज्ञपक्षमें ऋचा अर्थात् वेदवाणीसे सम्बद्ध प्रणवरूप अक्षर ओंकार—वह अविनाशी है सर्व-वेदव्यापी है, और निरतिशय सर्वश्रेष्ठ है। उसको व्योम इसलिए कहा गया कि उसमें सम्पूर्ण शब्दराशि ओत-प्रोत है। सम्पूर्ण मन्त्रोंमें जिन देवताओंका वर्णन आया है वे सब ओंकारमें विद्यमान हैं; जैसे प्रथममात्रामें पृथिवी, पृथिवीमें रहनेवाले, अग्नि और ऋग्वेद। द्वितीय मात्रामें अन्तरिक्ष, उसके निवासी, वायु और यजुर्वेद। तीसरी मात्रामें द्युलोक, उसके निवासी. आदित्य और साम। ओंकार ही सब कुछ है। जो ओंकारकी इस महिमाको नहीं जानता उसका वेदाध्ययन व्यर्थ है और जो जान लेता है वह मुक्त हो जाता है।

अधिदैव पक्षमें सम्पूर्ण ऋचाएँ आदित्यकी ही अर्चा-पूजा करती हैं, वही सब मन्त्रोंमें व्याप्त है—उसकी रश्मियोंका नाम देवता है—वही सबका अधिष्ठाता है।

अध्यात्म पक्षमें शरीरको ही ऋचा कहते हैं। क्योंकि शरीरकी एक-एक क्रिया और उपस्थितिसे आत्माकी ही अर्चा सम्पन्न होती है। ऋचन्ति-अर्चन्ति अनेन इति ऋक्। यह शरीर विषय-सुख भी आत्माको ही देता है और उसी उद्देश्यसे सब कर्म करता है। सारी इन्द्रियोंमें ज्ञानरूपसे वही है और उसीमें सारी इन्द्रियाँ अध्यस्त हैं। इन्द्रियोंको ही देवता कहा गया है। वही सबको सत्ता-स्फूर्ति देकर विशेष रूपसे अवन-रक्षण करता है इसीलिए उसे व्योम कहते हैं। वह आकाशवत् सर्वगत है। अविनाशी होनेसे उसीको अक्षर कहते हैं। सम्पूर्ण वाणियोंका पर्यवसान भी उसीमें । वह अविनाशी है। पारम्यकी पराकाष्ठा भी वही है अतः उसे 'परम' कहा गया है।

उसके ज्ञानके विना यह जीवन व्यर्थ है। उसके ज्ञानसे ही जीवन सफल होता है।

[आत्मदेव]

सायणने इस मन्त्रमें जीवात्माके पारमार्थिक स्वरूपका प्रतिपादन माना है। उसके साथ ऋक् प्रधान साङ्ग अपरविद्यात्मक चारों वेदोंका ऋचा शब्दसे ग्रहण किया है। इनका प्रतिपाद्य अदृश्यादि गुणक क्षरणरहित अविनाशी, नित्य, सर्वत्र व्याप्त ब्रह्म अक्षर शब्दका अर्थ है। बृहदारण्यक, मुण्डक आदि उपनिषदोंमें ब्रह्मको ही अक्षर कहा गया है। ऋचा और ब्रह्मका प्रतिपाद्य और प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। सभी ब्रह्मका ही ज्ञान कराते हैं। ,परम' शब्दका अर्थ है, उत्कृष्ट और निरतिशय। व्योम शब्दका अर्थ है आकाश। वह अलेप निराकार और विभु है। अधिष्ठान होनेसे सर्वका रक्षक भी है। ऐसे तत्त्वमें ही यह दृश्य प्रपंच अध्यस्त है। सब देवता, इन्द्रिय, विषय, वेद उस परमात्मामें ही पर्यवसित हैं। जो मनुष्य सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले सम्पूर्ण वेदके तात्पर्य-विषय इस परमार्थ वस्तुको नहीं जानता—वह केवल ऋगादि शब्द-जालके पाण्डित्यसे क्या लाभ उठायेगा? ज्ञानके साधनसे ज्ञेयको नहीं जाना तो क्या सिद्ध किया? प्रयोजन सिद्ध न होनेसे सारा वेद निष्फल गया।

इसका दूसरा अभिप्राय यह है कि परमात्माके ज्ञानके विना यज्ञादिका अनुष्ठान भी अकिंचित्कर ही है। जो इस परमात्माको जानते हैं—उन्हींकी स्थिति सम्यक् है। वे अपने स्वरूप ब्रह्ममें नित्य मुक्त रूपसे स्थित हैं। इसका यह भी अभिप्राय है कि जो जान लेते हैं उन्हें अनुष्ठानकी अपेक्षा नहीं रहती। उन्हें सब फलोंका फल अपने आप ही प्राप्त हो जाता है।
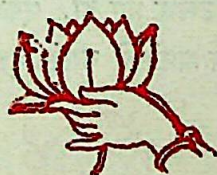
ईश्वरके लिए

तुम जिस काममें लगे हुए हो क्या वह इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके लिए परमात्माका स्मरण छोड़ा जा सके ?

जो काम तुम कर रहे हो, वह भगवान्के लिए ही है न ? नहीं तो क्या तुम स्वार्थके लिए इतने अन्धे हो गये हो कि मैं कहाँ जा रहा हूँ, यह भी तुम्हें मालूम नहीं ?

तुम्हें कुछ प्रकाश भी दीखता है, अथवा सब अन्धकार ही अन्धकार ? जिनमें तुम उलझे हुए हो, एकबार तटस्थ होकर उन्हें देखो। ऐसा करते ही तुम अपनेको उससे मुक्त पाओगे।

संसारके सारे सम्बन्ध और सम्पूर्ण बन्धन तुम्हारे अपने मनके माने हुए ही हैं। उन्हें चाहे जब तुम तोड़ सकते हो। परन्तु वैसा

करते समय यदि तुम भगवान्के साथ जुड़ जाओ तो तुम्हें एक अभूतपूर्व आनन्दकी अनुभूति होगी।

यदि चित्तमें निराशा होती है, मन चञ्चल रहता है, तुम जो कुछ करना चाहते हो वह नहीं कर पाते, तो पूरी शक्ति लगाकर परमात्माको पुकारो। तुम्हें तत्क्षण सहायता मिलेगी, तुम्हारे मन-प्राणमें एक नवीन चेतनाका प्रवाह होने लगेगा और तुम अद्भुत उत्साह तथा स्फूर्ति प्राप्त करोगे।

जिन प्रतिकूलताओं और विफलताओंसे तुम घबड़ा जाते हो, तुम्हें पता नहीं है कि वे तुम्हारी गुप्त और सुप्त शक्तिको जागरित करनेके लिए आती हैं। वे ही तुम्हारे आत्मविकासके उपयुक्त अवसर उपस्थित करती हैं। तुम हारो मत। प्राण रहते उनकी जीत मत मानो। अन्तमें विजय तुम्हारी है; क्योंकि परमात्माकी सम्पूर्ण शक्ति तुम्हारे आवाहनकी बाट जोह रही है।

शरीर, इन्द्रिय, प्राण अथवा मन तुम्हें प्रभावित नहीं कर सकते। ये तुम्हारे सेवक हैं, तुम्हारे उपकरण हैं। तुम चाहे जैसे इनका उपयोग कर सकते हो। तब क्यों नहीं सबसे श्रेष्ठ कर्ममें इन्हें लगाते ? तुम

केवल परमात्माके लिए कर्म करनेकी इन्हें आज्ञा देते रहो, ये अवश्य उसका पालन करेंगे।

तुम्हारी इच्छाके अनुसार यदि तुम्हारे औजार काम नहीं करते तो यह तुम्हारी ही असावधानीका फल है। सावधान रहो, इनकी एक-एक हरकतपर निगाह रक्खो और इनकी एक-एक क्रियाको भगवान्‌के साथ जोड़ दो।

तुमने संसारके साथ तो बहुत-से सम्बन्ध जोड़ रक्खे हैं, क्या भगवान्‌के साथ भी तुम्हारा कोई सम्बन्ध है? यदि होनेपर भी तुम उसे नहीं जानते हो तो जानो, तुम देखोगे कि वे तुम्हारे कितने निकट हैं। इतने निकट हैं वे कि ऐसी निकटता और किसीकी है ही नहीं।

निश्चय करो—परमात्मा ही मेरे गुरु, माँ—बाप, पुत्र-मित्र, स्वामी एवं पति हैं। और तो क्या, मेरे अपने आत्मा भी वे ही हैं। उनका मैं, वे मेरे; फिर दुःख-दर्द, शोक-मोह और निराशा-उद्वेगके लिए स्थान ही कहाँ है? मैं अपने प्रभुकी सन्निधिमें हूँ।

विचार करो—कितना सुन्दर और सुखमय है वह मन जो परमात्माके स्मरण-चिन्तनमें ही तन्मय रहता है। उसे सर्वदा, सर्वत्र,

सब रूपोंमें परम मधुर, मङ्गलमय प्रभुके ही दर्शन हुआ करते हैं। मेरा मन भी यदि वैसा ही हो जाता !

जो समय प्रमादमें बीत चुका है, उसकी चिन्ता मत करो; वह तो अब हाथसे निकल चुका है। इसको, जो अपने हाथमें है, अब क्यों खोते हो ? अधिक-से-अधिक परमात्माके निकट रहकर इसे बिताओ ।

जिस समय तुम यह सोचते हो कि मैं अगले घंटेमें या अगले दिन परमात्माका स्मरण करूँगा, यदि आगेके लिए कार्यक्रम न बनाकर उसी समय भगवान्‌का स्मरण करने लगो, उस वृत्तिको ही भगवान्‌में डुबा दो तो दूसरे समय मिलनेवाला आनन्द तुम्हें अभी मिल जायगा ।

जो सर्वोत्तम वस्तु तुम्हें अभी मिल सकती है उसे, कलपर टाल रखना कहाँकी बुद्धिमानी है ? इसीसे तुम्हारी उत्सुकताकी परीक्षा भी हो जाती है। तुम इसमें निरन्तर उत्तीर्ण होते रहो ।

निश्चय करो—मेरे ज़ीवनमें तब तक विश्रामके लिए एक भी क्षण नहीं है, जब तक जीवन और क्षणोंकी स्मृतिका लोप होकर सहज भावसे भगवान्‌की स्मृति नहीं होने लगती। ० ०
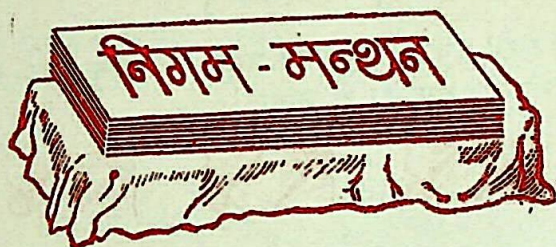
विष्णु सूक्त (प्रथम)

[ऋग्वेद मं० १ सूक्त १५४]

विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

"मनुष्यो ! मैं अत्यन्त तत्परतासे सर्वव्यापी स्वयंप्रकाश विष्णुके पराक्रमका प्रवचन कर रहा हूं, क्योंकि विष्णुने ही पार्थिव रजस्का निर्माण किया है। और भी उन्होंने ही अत्यन्त विस्तीर्ण त्रिलोकाश्रय अन्तरिक्षका भी निर्माण किया है। उन्होंने अपने तीन प्रकारसे पादविन्यास किया। इसी कारण महापुरुष विशिष्ट रूपमें उनका गान करते हैं और वे सर्वत्र विराजमान रहते हैं।"

'नु कम्'—यह दो पद होनेपर भी निघण्टुके अनुसार एक ही पद है! यास्कने कहा है—'नवोत्तराणि पदानि' दूसरी शाखाओंमें ऐसा पाठ भी मिलता है।

'पार्थिवानि रजांसि'—यहाँ पृथिव्यादि तीन लोकके अभिमानी देवता अग्नि, वायु, आदित्यके रञ्जनात्मक रूपको ही रजस् कहा गया है। 'पृथिवी शब्दका अर्थ तीनों लोक है। अभिप्राय यह है कि विष्णुने ही अन्तरिक्ष और अन्तरिक्षाश्रित लोकोंकी सृष्टि की। 'रजस्' शब्द लोकवाची है। यास्कने

कहा है—'लोका रजांसि उच्यन्ते।' उपार्जित कर्मोंके भोगके लिए चित्र-विचित्र लोकोंकी अपेक्षा होती है; इसीसे कर्मफलदाता विष्णु उनके निर्माता कहे गये हैं। इसमें नीचेके सात लोक और ऊपरके सात लोक तथा सत्य-लोकका भी ग्रहण है।

विष्णुका चंक्रमण भी दो प्रकारका है। सगुण दृष्टिसे एक पादमें सृष्टि है और तीन पाद सच्चिदानन्द हैं। भगवान् विष्णु इन्हीं तीन पादोंसे सत्, चित्, आनन्द रूपमें सर्वत्र व्याप्त हैं। अस्ति, भाति, प्रिय उनका रूप है और नामरूपात्मक सृष्टि। निर्गुण-दृष्टिसे तीन पाद मायाके हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति। उनमें भगवान् विष्णु ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट्के रूपमें विचरण करते हैं। वे स्वयं तुरीयपाद हैं। ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंमें इसका वर्णन आता है कि विष्णुने त्रिधा पादविन्यास किया। वे स्वयं तुरीय हैं। इसी अधारपर पुराणोंमें त्रिविक्रम द्वारा तीन पादमें सृष्टि नाप लेनेकी कथा है।

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२॥

सभी महापुरुष उन महानुभाव विष्णुकी, उनके पराक्रमोंका वर्णन करके स्तुति करते हैं, जैसे सिंहसे सब भयभीत रहते हैं, सिंह पृथ्वीमें सर्वत्र विचरणशील होता है और गिरिगुहाओंमें निवास करता है, वैसे ही विष्णुके भयसे वायु, सूर्य आदि अपनी-अपनी मर्यादामें स्थित रहते हैं। विष्णु सर्वत्र व्यापक हैं और सम्पूर्ण प्राणि-योंकी हृदयगुहामें निवास करते हैं, दृढ़ प्रेमकी ऊँचाइयोंपर प्रतिष्ठित होते हैं अथवा वेदवाणीमें उपलब्ध होते हैं। इन्हीं विष्णुके विस्तीर्ण तीन पादविन्यासोंमें सर्वलोक और प्राणी निवास करते हैं। इसीसे विष्णुकी सब स्तुति करते हैं।

'मृग' शब्द समस्त चतुष्पाद जातिका वाचक है। वह मृगशीर्ष और मार्गणाके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है। जो अपने शत्रुकी मार्गणा करे सो मृग। यहाँ मृग मृगेन्द्रका वाचक है। 'मृज्' धातु शुद्धयर्थक होनेपर भी गति अर्थमें प्रयुक्त है। धातुएँ अनेकार्थक होती हैं।

'न' शब्द उपमा इवका वाचक है। (निरुक्त)

'भीम' शब्दका अर्थ है, जिससे सब डरें--'भीषास्माद् वातः पवते'--श्रुति। 'कुचर' शब्द प्राणिवधरूप कुत्सित कर्म करनेवाले सिंहके लिए है; परन्तु विष्णु भगवान्के लिए प्रयुक्त होनेपर इसका अर्थ होता है—'क्वायं न चरति।' यह कहाँ विचरण नहीं करता अर्थात् सर्वत्र व्यापक है।

'गिरिष्ठ' शब्दका अर्थ है गिरिस्थायी। यह शब्द ऊर्ध्वलोकमें स्थित विष्णुके लिए, मेघवाहन इन्द्रके लिए और पर्वतस्थ सिंहके लिए प्रयुक्त होता है। 'गिरि' शब्दका अर्थ समुद्गीर्ण प्रीति भी है। उसमें निवास करनेवालेको 'गिरिष्ठ' कहते हैं। विचारकी उच्चता और दृढ़ता भी 'गिरि' है। 'गीः' शब्दके सप्तमीके एक वचनमें 'गिरि' बनता है। वेदवाणीमें 'ष्ठा' का अर्थ है; निवासी। वेदवाणीमें उसके परम तात्पर्य रूपसे जो निवास करता हो।

यहाँ चतुष्पाद मृगके रूपमें परमात्माका वर्णन माण्डूक्योपनिषत्के चतुष्पाद आत्मा और पौराणिकोंके वराह, सिंह, हयग्रीव आदि रूपोंका स्मरण दिलाता है। यह कहना कि उसके तीन पादविन्यासमें सम्पूर्ण भुवन निवास करते हैं। प्राज्ञ, तैजस और विश्वके स्थान, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके सूचक जान पड़ते हैं।

प्र विष्णवे शूषमेतु मन्म गिरिक्षित उरुगायाय वृष्णे।
य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थमेको विममे त्रिभिरित् पदेभिः ॥३॥

हमारे कर्तव्यपालन, धर्मानुष्ठान, उपासना आदिसे जन्य महत्त्व, विचार, मति और स्तुति सब सर्वव्यापी विष्णु भगवान्को

ही प्राप्त हों। उनका निवास-स्थान वेदके एक-एक मन्त्रमें है अथवा वे सबसे परे सर्वोन्नत प्रदेशमें विराजमान रहते हैं। महापुरुष भाँति-भाँतिसे उनका गान करते हैं। वे अपने भक्तोंके कामवर्षी हैं। उनकी कैसी अपार महिमा है कि उन्होंने विना किसी दूसरेकी सहायताके 'एकमेवाद्वितीयम्' रहकर ही अपने तीन पदोंसे इन दृश्यमान अत्यन्त विस्तृत नियत गतिसे चलनेवाले तीनों लोकोंका निर्माण कर दिया।

हमारे सब कर्म और उनसे प्राप्त होनेवाले वल, फल व्यापक दृष्टिकोणसे ही होने चाहिए। अपने संकीर्ण व्यक्तित्व जातीयता साम्प्रदायिकता और प्रान्तीय आदि क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठकर विश्वव्यापी विष्णुके लिए ही सब काम करने चाहिए।

'शूषं' का अर्थ है वल, महत्व। वेङ्कटनाथने 'शूषं' का अर्थ 'वनकर' माना है और उसको 'मन्म' अर्थात् स्तोत्रका विशेषण माना है।

'मन्म' का अर्थ सायणने मनन स्तोत्र अथवा वलका विशेषण मननीय माना है।

इस मन्त्रमें पौराणिकोंके वैकुण्ठ लोकका भी आधार विद्यमान है। वह विष्णु स्वयं तुरीय रूपमें रहकर अपने तीन पादोंसे सत्त्व, रज, तम, त्रिलोकी त्रिपुटी, अवस्थात्रय आदिका निर्माण करते हैं। इस औपनिषद प्रक्रियाके लिए भी इस मन्त्रमें सूत्र विद्यमान है।

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥४॥

वेदवेद्य एवं लोकप्रसिद्ध विष्णुके तीन पादविन्यास मधुरातिमधुर दिव्य अमृतसे परिपूर्ण हैं। वे कभी क्षीण नहीं होते और अन्नसे स्वाश्रित जनोंको आनन्दित करते रहते हैं। उन्होंने ही पृथिवी, द्योतनात्मक अन्तरिक्ष, सम्पूर्ण भुवन सारे प्राणी और चौदहों लोकोंको

धारण कर रखा है। वे 'एकमेवाद्वितीयं' हैं। वे ही पृथिवी, जल, तेजरूप तीन धातुओंको भूत, वर्तमान, भविष्यरूप तीन कालोंको अन्तर, बहिः, मध्यरूप तीन देशोंको तथा सत्त्व, रज, तमरूप तीन गुणोंको धारण करते हैं।'

सायणने 'पृथिवी' शब्दका यह अर्थ भी बताया है कि इससे नीचेके अतल, वितल आदि सात भुवनोंका ग्रहण होता है और 'द्यु' शब्दसे भूर्भुवः आदि सात ऊर्ध्व भुवनोंका। इस प्रकार चौदहों भुवन और उनमें रहनेवाले प्राणियोंका आधार विष्णु परमात्मा ही है।

तीन धातुओंके समाहारको त्रिधातु कहते हैं। कारण और आधार दोनों एक है। विष्णु चेतन है; इसलिए दृश्यमान जड़ सृष्टिका कारण और धारण होना आरम्भक या परिणामीके रूपमें नहीं हो सकता। वह स्वयं एक और एकरस रहकर ही अपनेसे बाहर नहीं, अपने-आपमें ही सबको प्रकाशित कर रहा है।

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः ।।५।।

'इस महान् सर्वव्यापी विष्णुके सर्वाभीष्ट परमप्रिय अविनाशी धामको मैं अवश्य प्राप्त करूं। उस ब्रह्मलोक (वैकुण्ठ) में ही परम प्रकाशमय विष्णु भगवान्‌को साधनोंके द्वारा चाहनेवाले परमानन्दका अनुभव करते हैं। सम्पूर्ण जगत्‌में विविध रीतिसे पादविन्यास करनेवाले उरुक्रम त्रिविक्रम विष्णुका अर्थात् सर्वव्यापी परमेश्वरका वही सर्वोत्कृष्ट निरतिशय केवल सुखात्मक पद अर्थात् स्थान है और वहींसे मधुमयी अमृतधारा प्रवाहित होती है। इस प्रकार सम्पूर्ण पुण्यात्माओंके सबसे बड़े हितकारी वही परमेश्वर विष्णु हैं। यह बात श्रुति, स्मृति, पुराण आदिमें प्रसिद्ध है।

'पाथस्' का अर्थ अन्तरिक्ष है (निरुक्त)। इसका अभिप्राय है अविनश्वर ब्रह्मलोक।

'अश्यां' 'अर्थात् व्याप्त हो जाऊं'। मैं उस व्यापक अविनाशी लोकमे एकत्व अर्थात् तादात्म्यका अनुभव करूं।

'मध्वः' 'मधुनः' मधुरस्य उत्सः निष्यन्दः—मधुर धाराका उद्गम। वेङ्कटनाथने लिखा है—'विष्णुका परम पद अन्तरिक्ष उदकका उद्गम स्थान है।' सायणका कहना है 'कि उस विष्णुधाममें क्षुधा पिपासा, जरा, मरण और पुनरावृत्ति आदिका भय नहीं है। वहाँ सङ्कल्पमात्रसे अमृतकुल्या आदि भोग प्राप्त होते हैं। न उससे वड़ा कोई लोक है और न विष्णुसे वड़ा कोई वन्धु है। इस सर्वव्यापी पदकी प्राप्ति हो जानेपर जीव जन्म-मरणके आवर्त्त से मुक्त हो जाता है।

इस मन्त्रमें पौराणिक वैकुण्ठधामके निरूपणका मूल आधार प्राप्त होता है और गंगा विष्णुपदी है, इसका भी संकेत प्राप्त होता है। अन्तरिक्ष जिसका लोक है, प्रकाशात्मक व्याप्ति जिसका स्वभाव है, सम्पूर्ण कल्याण-कामियोंका जो सर्वोत्कृष्ट तृप्तिस्थान है, जो निरतिशय है और परमानन्दका उत्स है; वही वाञ्छनीय है और उससे मैं एक हो जाऊं, यही सर्वोत्कृष्ट अभिलाषा है। देवता विशेष विष्णुका धाम, अधिष्ठान, प्रकाशक, ब्रह्म वही है। इस औपनिषदी प्रक्रियाका भी यहाँ सङ्केत मिलता है।

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥ ६ ॥

हे स्त्री पुरुषो ! हम तुम्हारे लिए उन प्रसिद्ध सुखपूर्वक निवासयोग्य स्थानोंकी प्राप्तिके लिए विष्णु भगवान्से प्रार्थना करते हैं, जिसमें वहुत-सी अत्यन्त प्रकाशमान रश्मियां अथवा वहुत सींगवाली गौएं सर्वदा चलती फिरती रहती हैं, इस निवास योग्य स्थानके

आधारभूत द्युलोकमें महापुरुषोंके द्वारा स्तुति करने योग्य कामवर्षी महागति विष्णुका परम प्रसिद्ध निरतिशय पद सर्वातिशायी रूपमें अपनी महिमासे देदीप्यमान हो रहा है।

यास्कने निरुक्तमें 'गो' शब्द रश्मिवाचक है, यह व्याख्या करनेके लिए इस मन्त्रका अभिप्राय व्यक्त किया है। ये रश्मियां (किरणें) सद्वस्तुसे निकलती हैं, इसलिए इन्हें भूरि कहते हैं। उन्होंने 'भृङ्ग' शब्दकी व्युत्पत्ति बतानेके लिए अनेक धातुओंका उल्लेख किया है। श्रिञ् सेवायां' 'भृञ् हिंसायां' 'शमु हिंसायाम्'। दूसरी व्युत्पत्ति उहोंने दो धातुओंसे बतायी है। यथा-शरण (हिंसा या रक्षा) के लिए उद्गत अथवा सिरसे निर्गत।

'विष् लृ व्याप्तौ' से 'विष्णु शब्द बना है। इसका अर्थ है महागति।

अनेक महानुभावोंने इस मन्त्रमें गोलोक अथवा व्रजधामका वर्णन माना है; क्योंकि यजुर्वेदमें गोष्ठान, गोष्ठ अथवा गायोंके निवासस्थानको ही व्रज कहा गया है—'व्रजं गच्छ गोष्ठानम्'। 'पारमेष्ठ्य' अपलोक गायोंकी उत्पत्तिका स्थान है। सामवेदमें गोसव यज्ञके आयतन रूपमें उसका निश्चय किया गया है। (देखिये ताण्डय ब्राह्मण)। विद्यावाचस्पति महामहोपाध्याय पण्डित मधुसूदन झाने इस मन्त्रका संस्कृत भाषामें ऐसा रूपान्तर किया है—

तानि युवयोः स्थानानि वाञ्छामो गन्तुं यत्र गावो बहुभृङ्गाः सं चरन्ति।
अत्र खलु तन्महायशसो विष्णोः परमं धाम विद्योतते बहु॥

इस मन्त्रका आध्यात्मिक भाव ऐसा सम चाहिए कि अन्तर्देशके गुह्यतम प्रदेशमें एक ऐसा स्थान है, ज ।चिदाभास युक्त असंख्य वृत्ति-रश्मियां बहिरन्तर गमनागमन करती रहती हैं। उनके केन्द्रविन्दु स्वयं सर्वव्यापी विष्णु कृष्ण आत्मदेव हैं। परमात्माकी उपलब्धिका वही सर्वोत्तम स्थान है। ० ० ०

y garden walls show how SILVICRETE ake almost any shape and design. Indoors, ovides unlimited scope for decorative t—in plain colours or in multi-colour rns.

New look in housing: Judging by the modern trend in home designing, architecture is no longer confined within four walls. Designers have an 'open' mind on the subject. SILVICRETE lends itself readily to the new outlook in form, colour and texture.
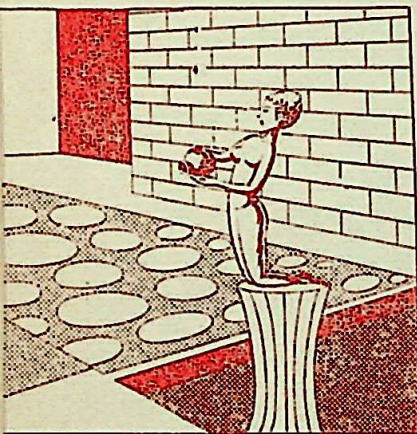
lern Concrete Sculpture sets the e for a smart garden. Plain or coloured tones, crazy pavements, fountains, sun ...made of SILVICRETE add new zest to oor living.
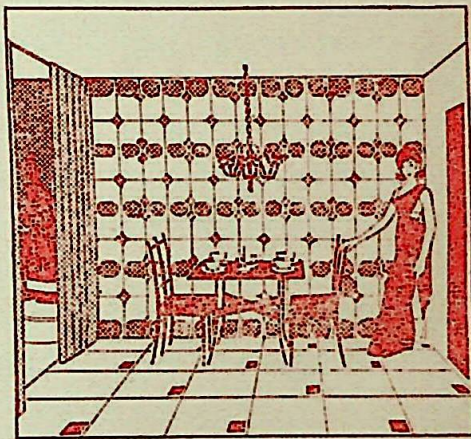
SILVICRETE terrazzo floor finishes laid over large areas in plain colours or in multi-colour patterns make living a pleasure. Stairs and dadoes may be made in terrazzo to match or contrast with floors.

For happier living...
indoors and outdoors

specify **Silvicrete ACC WHITE CEMENT**

Readily available from the nearest branch of
The Cement Marketing Co. of India Ltd., or their distributors.

Silvicrete is the basic material for the production of Snowcem and Colorcrete

: ASSOCIATED CEMENT COS. LTD. • The Cement Marketing Co. of India Ltd.

पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजी महाराज

सबमें एक, एकमें सब,

पूज्यपाद श्रीहरिबाबाजी महाराज

एक नदीके किनारे पहाड़ीपर तीन बुर्जवाला एक मन्दिर था। उसमें हम दो-तीन साधु रहते थे। ग्रामसे भिक्षा कर लाते और विश्रामके बाद सायंकाल कुछ सत्संग भी चलता था। एक दिन यह चर्चा चली कि सब अपने जीवनकी कुछ अनुभूत बात बतायें। उनमें से एक सन्तने कहा—जब हम बालक थे तो हमारे ग्राममें एक महात्मा भिक्षाको आते थे और हम बच्चोंसे मिलकर खेल-कूद भी लेते। मैं कहता बाबा! आप तो हमसे पीछे रह जाते हो। वे उत्तर देते कोई बात नहीं कल और कूदनेकी कोशिश करूँगा। एकबार वे भिक्षा लेकर अपनी कुटीपर जा रहे थे कि भोजनकी गन्धसे एक कुत्ता उनके पीछे हो गया। उन्होंने कहा चला जा! कुत्ता नहीं हटा। दुबारा कहा—चला जा! फिर भी उसके न हटनेपर तीसरी बार वे बोले अरे चला जा! इसबारके कहनेपर कुत्ता जो लौटा तो फिर उसने मुँह फेरकर भी उनकी ओर नहीं देखा। चला ही गया। उनसे एक दिन मैंने कहा महाराज! भजन कैसे करना चाहिए? वे बोले देखो बच्चा! 'सबमें एक, एकमें सब'। बस; इसीको जपते रहो। मैं भी उनकी आज्ञानुसार जपने लगा। "सबमें एक, एकमें सब। सबमें एक, एकमें सब।" उनके संकल्प-शक्ति, आशीर्वादसे इसके जपसे मुझे बड़ी शान्ति एवं एकाग्रता मिली।

(२) कुछ समय बाद मैंने उनसे प्रार्थना की 'महाराज! मुझे कृपया संन्यासकी दीक्षा—मन्त्र दे दीजिये' तो उन्होंने इसको स्वीकार-कर मुझे संन्यासी वेष दिया।

(३) हम भी जब बाँधपर मिट्टी डालते—कूटते थे तो हाथ पैरोंसे ताली बजाते और इसीको जपते रहते 'सबमें एक-एकमें सब। "सबमें एक, एकमें सब।" ० ० ०

धर्मानुष्ठानका अभिमान

[श्रीश्री उड़ियाबाबाजी महाराजका निर्णय]

भूसीमें एक सज्जन रहते थे। उन्हें साठ रुपया मासिक पेन्शन मिलती थी। केवल दूध पीकर रहते थे, और कटिवस्त्र मात्र धारण करते थे। अग्निहोत्री थे और नियमपूर्वक गङ्गास्नान करते थे। इतना होनेपर भी वे वेदान्तका विरोध करते थे। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज भूसी पधारे तो मैंने उनने पूछा—'ये ब्राह्मण त्यागी हैं; धर्मात्मा हैं; किन्तु वेदान्त और साधुओंका विरोध क्यों करते हैं ? इनका अन्तःकरण क्यों शुद्ध नहीं होता ?

श्रीमहाराजजीने कहा—'इसको जो पेन्शन मिलती है, उससे यह मानता है कि मैं अपनी कमायी खाता हूँ; अतः श्रेष्ठ हूँ और ये साधुलोग दूसरोंकी कमायीपर जीते हैं, अतः कनिष्ठ हैं।

अपनी कमायी और धर्मानुष्ठानका अभिमान ही इसका कारण है।

जितना धन या धर्मानुष्ठन है वह सब तो अहं-ग्रन्थिको बढ़ानेवाला है, यह कटेगा तब, जब गुरुके पास जाओगे।

—'मुराडकसुधा'
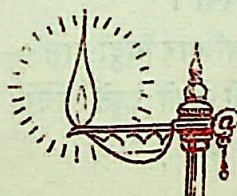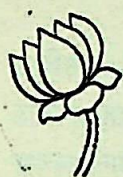
भारतीय तत्त्वदृष्टि

[भारयीय विद्याभवनमें दिये गये भाषणसे]

प्रवक्ता-पू० पा० स्वामी श्रीअखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

भारतीय तत्त्वदृष्टि खास भौगोलिक सीमामें बंधी हुई नहीं है; वह तत्त्व है, सत्य है, अनन्त ब्रह्माण्डके लिए है। हमारे भारतीय महर्षियोंने इस बातको बड़ी गंभीरताके साथ पैनी नजरसे समझा है। कई लोग ऐसा मानते हैं कि परिस्थितिके अनुसार दृष्टि बनती है, जैसे अमीरोंकी प्रबलता होती है तब अमीरोंकी दृष्टिसे और गरीबोंकी प्रबलता होती है तब गरीबोंकी दृष्टिसेदर्शन बनते हैं।

परिस्थितिके प्रभावसे मुक्त कोई चित्त नहीं हो सकता। जिन लोगोंने दर्शनशास्त्रका निरूपण किया है या खोज की है वे सबके सब परिस्थितिसे प्रभावित हैं। मार्क्सदर्शनके अनुयायीका सब दर्शनोंके प्रति यह दृष्टिकोण होता है कि यह अमुक स्वार्थसे प्रेरित है। अमीरोंने चाहा कि गरीब वशमें रहें। उन्होंने ब्राह्मण पण्डितोंको धन देकर वशमें किया और उनसे ऐसा लिखवाया कि लोगोंके दिलमें धर्मका विष भर जाय और लोग हमेशाके लिए गुलाम हो जायँ। लोगोंकी बुद्धिमें विष भरना दर्शनकी उत्पत्तिका हेतु है।

भारतीय दर्शन कर्मसे पृथक् है। औपनिषद-दर्शन यह कहता है कि जबतक चित्त शुद्ध नहीं हे, तबतक तत्त्वदृष्टि अथवा सच्ची दृष्टि प्राप्त नहीं हो सकती सामान्यरूपसे कोई भी व्यक्ति

मार्क्सदर्शनका अनुशीलन या अनुभव पुस्तकालयमें बैठकर कर सकता है। औपनिषद—दर्शनमें हमारे दार्शनिकोंका यह दृढ़ निश्चय है कि चित्त शुद्ध न हो तो तत्त्वबोध नहीं हो सकता, क्यों कि चित्तमें संस्कार होते हैं। सबके चित्तमें संस्कार रहते हैं। हमारे आचार्योंने ऐसा अध्ययन किया है कि अनादि परम्परासे, प्रवाहरूपसे सृष्टिमें नित्य ही प्रत्येक चित्तमें कोई न कोई संस्कार हावी रहता है, उसका प्रभाव रहता है। मनुष्यको बचपनसे जन्म-जन्मसे या संगके रंगसे जो-जो संस्कार मिलते रहते हैं उनसे आक्रान्त बुद्धि द्वारा वह तत्त्व समझनेकी चेष्टा करेगा तो उसे तत्त्व सच्चा न दीखेगा, संस्कारके रंगमें रंगा हुआ दीखेगा, जैसे हम हरे काँच-वाली मोटरमें बैठते हैं तो बाहर-का सब—मकान, सड़क इत्यादि हरा हरा दीखता है वैसे ही संस्काराक्रान्त बुद्धिसे तत्त्व पृथक् पृथक् दीखता है। इसलिए भारतीय तत्त्वदृष्टिमें पहला जोर दिया गया कि जो अन्तःकरण शुद्ध है वही तत्त्वज्ञानका अधिकारी है, अन्य नहीं। इस दृष्टिसे हम विश्वदर्शनोंके साथ भारतीय दर्शनकी तुलना करें।

दार्शनिक तत्त्वज्ञानके लिए रागद्वेष विनिर्मुक्त दृष्टि चाहिए। हनुमानजीकी आंखमें क्रोधकी लाली आगयी तो अशोकवनके श्वेतकमल भी उन्हें रक्तकमल दीखने लग गये। जब हमारे चित्तमें मजहबी पक्षपात, भौगोलिक पक्षपात रहता है; तब हम सत्यको, तत्त्वको नहीं समझ सकते। इसलिए अन्तःकरण शुद्ध बनाना चाहिए। दूसरे जब हम तत्त्वमें किसी आकारका आरोप करते हैं कि सोने या माटीमें पुरुष, स्त्री, गाय या घोड़ा बनाया जाय तब आकारके आरोपमें हमारी रुचि काम करती है और आकारके निषेधमें हमारी अरुचि काम करती है। परन्तु

आकार और आकारके अभाव दोनोंके आरोपसे शून्य जिसमें कालकी कोई कला नहीं है, वह शुद्ध तत्त्व है। जैसे संस्कृति दो हजार वर्ष पूर्वकी, अबकी या बादमें आनेवाली संस्कृतिमें कालका प्रभाव है। इसीप्रकार राष्ट्रीय संस्कृतिपर भूगोलका प्रभाव रहता है जैसे कि भारतीय-संस्कृति, योरोपीय-संस्कृति, अमेरिकन-संस्कृति। मजहबी-संस्कृति पर आचार्यका प्रभाव रहता है। जब आचार्य द्वारा प्रचारित मतको ही सबसे श्रेष्ठ बताया जाता है तब वह साम्प्रदायिक संस्कृति कही जाती है। जहाँ आचार्यको, राष्ट्रको, कालको हम प्रमुखता देते हैं वहाँ हम शुद्ध तत्त्वका अनुसन्धान करते नहीं होते, अपनी दृष्टिमें एक प्रकारकी संकीर्णता लाकर, एक सीमामें उसे बांधकर तत्त्वका दर्शन करते हुए होते हैं। औपनिषद दर्शनकी यह विशेषता है कि वह सत्यको कालकलामें नहीं बांधती। उसका यह कहना नहीं है कि महावीर स्वामी द्वारा, गौतमबुद्ध द्वारा, मोहम्मद या ईसा द्वारा यह स्थापित या प्रचारित तत्त्वदृष्टि है, इसलिए यह सच्ची है। व्यक्तिकी प्रधानतासे तत्त्वका दर्शन करना यह औपनिषद-दर्शनका काम नहीं है, बल्कि व्यक्तिका और व्यक्तिके अभाव दोनोंका निषेध करके कालकलासे देशकलासे और विषयकलासे अछूता जो तत्त्व है उसका दर्शन प्राप्त करनेके लिए मनुष्यके हृदयमें जिस शुद्ध और तीक्ष्ण बुद्धिका होना जरूरी है; वह बताना औपनिषद-दर्शनका काम है। इसमें शुद्ध बुद्धिका आग्रह है, संस्कृत बुद्धिका नहीं। शुद्ध-बुद्धि और संस्कृत बुद्धिमें अन्तर है। वाह्य देश, काल, वस्तु-संस्काग्राही अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता। शुद्ध प्रकाशकसे—अग्राही चेतन प्रकाशसे तादाम्यापन्न अन्तःकरण ही शुद्ध होता है।

'हम वेदको अपौरुषेय कहते हैं।

अपौरुषेय कहनेका भी यही अभिप्राय है कि शंकराचार्यने इस तत्त्वको देखा इसलिए यह तत्त्व श्रेष्ठ है ऐसा हम नहीं कहते। तत्त्वानुभूतिकी अपेक्षासे पुरुषमें श्रेष्ठता आती है, पुरुषकी अपेक्षासे तत्त्वानुभूतिमें श्रेष्ठता नहीं आती। हम कहते हैं कि इस तत्त्वको भगवान् श्रीशङ्करने देखा, इसलिए वे श्रेष्ठ हैं।'

जितने पौराणिक धर्म हैं—बाइबिल, कुरान, भिन्न-भिन्न मजहब, वे एक व्यक्तिमें शुद्धता-का आरोप करके चलते हैं। वह व्यक्ति जो कि कालके एक अंशमें पैदा हुआ है, जो कि संम्पूर्ण विश्वसृष्टिके एक अंशमें पैदा हुआ है, जिसका सम्पूर्ण विश्व-विराट्–सृष्टिमें कोई वजन या तौल नहीं है, जिसकी सर्व-ज्ञतामें, सर्वानन्दमें, सर्वसत्तामें, समष्टिज्ञानमें कोई कीमत नहीं है, उस व्यक्तिके महत्त्वको स्थापित करके जब हम वस्तुको, तत्त्वज्ञानको प्रभावित करने लगते हैं तब उसमें उस व्यक्तिकी प्रधानता हो जाती है, वह वस्तु-तत्त्वका ज्ञान नहीं होता है। इस प्रकार भारतीय तत्त्वदृष्टिकी दूसरी विशेषता यह है कि वह किसी व्यक्ति, मजहब या भूमिकी श्रेष्ठता नहीं मानता। तत्त्वज्ञान इसलिए श्रेष्ठ नहीं है कि वह भारतमें पैदा हुआ, भारत इस लिए श्रेष्ठ है कि उसमें वह तत्त्व-ज्ञान प्रकट हुआ। शंकराचार्य इसलिए श्रेष्ठ हैं कि वे इस तत्त्वका अनुभव कर सके। तत्त्व-ज्ञान इसलिए श्रेष्ठ है कि वह अपौरुषेय है। उसमें पुरुषबुद्धिसे प्रभावित 'यह मेरा—यह मेरा' वाली बात नहीं आती; इसलिए श्रेष्ठ माना जाता है।

इसप्रकार वह परिस्थिति-जन्य नहीं है, शुद्ध अन्तःकरण द्वारा अनुभवमें आता है। वह किसी कालसे, देशसे, आचार्यसे, मजहबसे संबद्ध होकर अपनी श्रेष्ठताकी अभिव्यक्ति नहीं करता बल्कि उनको यह श्रेष्ठ बनाता है। इसकी तीसरी विशेषता

बड़ी विलक्षण है। हम ईश्वरके अनुसंधानकी बात करते हैं और उपादान माने सृष्टिके मसाले-पर विचार करते हैं। कुम्हार घड़ेका उपादान कारण नहीं है, निमित्त कारण है। दूसरे मज़हब घड़े बनानेवालेका अनुसंधान करते हैं। औपनिषद-दर्शनमें मिट्टीका अनुसन्धान किया जाता है कि मिट्टी क्या चीज है ? चार्वाक कहता है कि सृष्टिका बनानेवाला कोई नहीं है, कुंभ-कारकी अर्थात् चेतनकी कुछ आवश्यकता भी नहीं है, जड़ तत्त्व केवल उपादान ही उपादान है। दूसरी तरफसे देखें हमारे जितने औपनिषद दर्शन हैं उनमें कोई भी पक्ष ऐसा नहीं है जो उपादानके संबन्धमें बाकी रह जाय। दार्शनिक वह है जो केवल वर्तमान दर्शनको ही नहीं देखता, भूत-भविष्यके दर्शनोंको भी ले लेता है। जिसके गणितमें भूत-भविष्य नहीं आते वह सच्चा दार्शनिक नहीं है। जो विविध मत प्रचलित हैं उनमें कुछ इस प्रकार हैं—

(१) एक मत कहता है कि सत्ता पहले रहती है, उससे चेतन-की उत्पत्ति होती है।

(२) दूसरा मत बताता है कि चेतन पहले रहता है, उससे सत्ताकी उत्पत्ति होती है।

(३) तीसरा मत कहता है कि सत्ता और चेतनता ये दोनों अनादि और अनन्त हैं।

(४) चौथे मतका कहना है कि सत्ता और चेतनता दोनों ही वास्तविक हैं, तत्त्व नहीं हैं।

(५) पाँचवे मतकी मान्यता है कि सत्ता और चेतनता दोनों एक ही हैं, अलग-अलग नहीं हैं। 'भूत्वा भाति', 'भात्वा भवति' इस प्रकारके भिन्न-भिन्न विभाग करते हैं। इसप्रकार इतने भिन्न-भिन्न विभाग हो जायेंगे कि आगे उनकी गणना नहीं हो सकती।

सम्पूर्ण विभागोंका वर्गी-करण करके दार्शनिक निश्चय करता है। वह किसी विभागको

छोड़ नहीं देता या कोई विभाग बाकी नहीं रह जाता। एक अद्वैत है। दूसरा द्वैत है। तीसरा द्वैत-अद्वैत दोनों है। चौथा दोनों नहीं है; इसभाँति विविध पक्ष हैं।

(१) रामानुजाचार्यका मत द्वैतविशिष्ट अद्वैत है।

(२) मध्वाचार्यका मत है कि केवल द्वैत ही है, अद्वैत नहीं है।

(३) वल्लभाचार्यका मत अद्वैतविशिष्ट द्वैतका है।

(४) निम्बार्काचार्यका मत द्वैताद्वैतका है।

(५) शंकराचार्यके मतमें केवल अद्वैत ही है, द्वैत नहीं है।

(६) ये सबके सब भेद अद्वय-विज्ञानके ही रूप हैं। अतएव वस्तुतः शून्य है यह बुद्ध बताते हैं।

द्वैतवादियोंमें जैन, सांख्य, पूर्वमीमांसा सबके सब आ जाते हैं। उनमें भी कोई आस्तिक हैं तो कोई नास्तिक हैं, इसप्रकार अनेकभेद हो जाते हैं। ये सब गणितके अनुसार गिने हुए भेद होते हैं। मान लो कि एक सभा जुड़े जैसे अभी जुड़ी है और सब मतवादी सभामें आकर अपने अपने स्थानपर बैठ जायँ तो कहना होगा कि उनके लिए अमुक स्थान बना हुआ है। वे बुद्धिके अमुक स्तरसे देखते हैं; तब यह बात ऐसे मालूम होती है। तात्पर्य है कि जैसे फोटो लेते समय किस कोणसे फोटो लिया गया है? यह अद्वैतवादी ठीक-ठीक बता सकता है। परन्तु द्वैतवादीकी सभामें अद्वैतवादी आये तो उसके लिए कोई कुर्सी या जगह नहीं है कि उसे बुद्धिके किसी कोण अर्थात् स्तरपर बैठा दिया जाय, क्योंकि अद्वैत-दर्शन बुद्धिके स्तरमें प्रतिष्ठित नहीं है; बल्कि बुद्धिके प्रकाशक रूपमें, बुद्धिके अधिष्ठान रूपमें यह प्रतिष्ठित है। इसीमें बुद्धि फुरती है, इसीमें बुद्धि रहती है और इसीमें बुद्धि मिट जाती है।

ब्रह्म माने प्रज्ञाशक्ति और क्षत्र माने प्राणशक्ति। क्रिया-शक्ति और ज्ञानशक्ति ये दोनों जिसमें भोग्य हैं। प्रज्ञा-प्राण दोनोंकी मृत्यु—अभाव चटनीका काम देते हैं=माने मृत्यु ही जहाँ चटनी है। इतना ही नहीं कि दोनों भोग्य हैं अर्थात् मृत्यु ही नहीं है। जैसे ब्रह्म नहीं है, वैसे क्षत्र नहीं हैं; अभाव भी नहीं है; जो भावाभाव दोनोंका साक्षी है, अधिष्ठान है; जो कालातीत है; कालातीत ही नहीं जिसमें कालका भूठा अध्यारोप किया जाता है; जिसमें विषय और वृत्तियोंका भूठा अध्यारोप किया जाता है; उस अपरिच्छिन्न तत्त्वका दर्शन एक विलक्षण दर्शन है।

यह सोचना कि 'यह दर्शन समय-समयपर पैदा होता और नष्ट होता रहता है।' केवल राजनीतिक या सामाजिक दर्शनके बारेमें सत्य है। अर्थदर्शनका उदय और विलय होता रहता है कि कब कैसे धन कमायें और कैसे उसे खर्च करें ? केवल धन कमानेकी विद्याका नाम अर्थ-शास्त्र नहीं है, विनिमय, दान, और धनके सदुपयोगका नाम भी अर्थदर्शन है। तात्कालिक दृष्टियाँ अनेक होती हैं, शाश्वत दृष्टि एक होती है। काम और भोग दर्शनमें भी परिवर्तन होता रहता है। इसीप्रकार केवल कर्म-सम्बन्धी दर्शन है। समाजमें कौन-सा कर्म उपयोगी है और कौन-सा कर्म उपयोगी नहीं है। उसमें भी शाश्वत दृष्टि एक ही है। इसीप्रकार राजनीतिमें पार्टी बढ़ानेके लिए दर्शन होते हैं। अमीर-अमीर मिलकर एक पार्टी बनाते हैं तो गरीब-गरीब मिलकर एकपार्टी बनाते हैं किन्तु स्वार्थी दृष्टिसे जो दर्शन निर्माण होता है; उसका नाम दर्शन नहीं है। दर्शन उसको कहते हैं जो मनुष्य जातिके लिए वरदान बनकर आया हो कि वह सम्पूर्ण भेद-भावोंको, वैमनस्यको, संघर्षको हमेशाके लिए काट सके।

संसारमें जितनी वस्तुएं होती हैं; उनमें वृद्धि और ह्रास होते ही रहते हैं, श्रेष्ठ-कनिष्ठका भेद बना रहता है। धर्म, अर्थ, कर्म, भोग, राजनीति, समाज आदि क्षेत्रोंके सम्बन्धमें ठीक-ठीक इनका क्रम बदलता रहता है। एक तत्त्वदृष्टि ऐसी होती है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें एक निर्विशेष तत्त्व होता है। तत्त्वको निर्विशेष बतानेका अर्थ ही यह हुआ कि ब्रह्मांडोंमें विशेषता तो हो सकती है। जैसे सौरमण्डलकी एक विशेषता है तो ध्रुव-मंडलमें दूसरी विशेषता है, चन्द्रमण्डलमें या शुक्रमण्डलमें अपनी-अपनी अलग-अलग विशेषताएं हो सकती हैं, किन्तु इनमें भेद होनेपर भी जो निर्विशेष वस्तु है; वह एक है। उसपर दृष्टि रखनेसे ब्रह्माण्डोंमें न युद्ध होगा न वैमनस्य होगा।

इस तत्त्वज्ञानको दृष्टिमें रखें तो कभी द्वन्द्वका भय नहीं है; चाहे सृष्टिका कितना विस्तार हो। आजकल लोगोंकी दृष्टि इतिहासको अधिक छूती है। ब्रह्माण्डके इतिहासको तो वैज्ञानिकोंपर छोड़ा गया है। ऐतिहासिक दृष्टिकोणको समाजके और राजनीतिके नेता अधिक अपनाते हैं। इतिहासमें हम देखते हैं कि कितने राज्योंका उत्थान-पतन होता है और कितनी संस्कृतियाँ आती-जाती रहती हैं।

जिसप्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति विशेष-विशेष स्थिति है; वैसे मनुष्यके द्वारा होनेवाली योजनाकी भी विशेष-विशेष स्थिति है। योजना कार्यान्वित होनेकी स्थिति जाग्रत् है, योजना बन रही हो, तब स्वप्नकी स्थिति है और योजनाके बीज मौजूद हों तब सुषुप्ति है। इसप्रकार तीनों स्थितियोंमें योजना है। वैसे ही जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्ति तीनोंमें एक निर्विशेष तत्त्व सत्य है। जो विशेषताके पीछे बैठी हुई वस्तु है; वह वस्तु दूसरी नहीं है। वह

अपना आपा ही है; क्योंकि अपने अभावका अनुभव कभी किसीको नहीं होता।

यह जो ऐतिहासिक दृष्टि-कोण है, जिसमें सृष्टिका उत्थान और पतन होता रहता है उसमें जो एकरस रहनेवाला तत्त्व है, उसपर दृष्टि रहे; तो भले भाषा बदल जाय, मजहब और जाति बदल जाय, जीवनन्मुक्तके चित्त-पर इन परिवर्तनोंका प्रभाव नहीं पड़ता। जीवन्मुक्तकी विशे-षता ही यह है कि उसका चित्त भाषा, मजहब, जाति तीनोंसे प्रभावित नहीं होता। ये तीनों तो समय-समयपर बदलते ही रहते हैं। लोकवासना, शास्त्र-वासना और देहवासनासे पृथक् होना ही जीवन्मुक्ति है। यह जीवन्मुक्ति तत्त्वदृष्टिसे ही आती है।

अपने अपने पक्षकी पुष्टिके लिए लोग तरह-तरहकी बातें करते हैं। चार्वाकके मतमें केवल चार भूत सृष्टिके उपादान हैं। परमाणुवादी कहता है, सृष्टिका उपादान केवल परमाणु ही है। प्रकृतिवादी कहता है, सृष्टिका उपादान केवल प्रकृति ही है। विज्ञानवादी कहता है, सृष्टिका उपादान केवल विज्ञान ही है। इसप्रकार विचार करते-करते जब हम अन्तमें संपूर्ण आकारोंको छोड़ देते हैं; तब चेतन और सत्को द्रष्टा और उपादानको पृथक् करनेवाला कोई तत्त्व जगत्के मूलमें नहीं मिलता। जब उसको देखते हैं कि वह देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं होता है; तब वही सम्पूर्ण जगत्का उपादान चेतन द्रष्टा है और दूसरा है ही नहीं। यह बात अनु-भवमें प्रत्यक्ष आ जाती है। इस प्रकार चाहे विश्व-ब्रह्माण्ड, देश-कालका विस्तार कितना भी हो, सबमें केवल परमार्थसत्ता, तत्त्व-सत्ता ही समन्वित है। सब भेद-विभेदोंका समन्वय करनेवाला वही है।

हम व्यवहारमें उतरकर जब

बोलते हैं तब यह कहते हैं कि हमारी भारतीय तत्त्वदृष्टिकी यह विशेषता है कि वह व्यवहार-में अनेक रूप होनेपर भी मूलतः एक ही है। अनेक साधनोंके द्वारा कैसे एक वस्तुकी उपलब्धि करना यह ज्ञानदृष्टि है और एक वस्तु कैसे अनेक रूप धारण करती है और अनेक रूपोंमें उपयोगी बनती है, यह विज्ञान-दृष्टि है। एकमेंसे अनेक कैसे होता है उसकी उपपत्ति निकालना विज्ञान है। सम्पूर्ण अनेक कैसे एकमें जाकर समन्वित होते हैं यह तत्त्वज्ञान है। 'एकका अनेकमें अनुगत होना' यह भी तत्त्वके व्यवहार्य रूपको लेकर कहते हैं। वस्तुतः यह व्यवहार भी अन्तमें यही बताता है कि वह न किसीसे व्यावृत्त है न किसीमें अनुगत है। वार्तिककार ने कहा—

अव्यावृत्ताननुगतं निःसामान्य-विशेषतः।

यह न कहना कि ब्रह्म सबमें भरा है या सबसे जुदा है। क्योंकि तदतिरिक्त है ही नहीं।

सब वेदान्ती तो यही कहते हैं कि 'ब्रह्म सबसे जुदा है!' तो यह उनके ब्रह्म खोजनेकी एक शैली है। बड़े-बड़े महात्मा कहते हैं कि 'ब्रह्म सबमें भरा है!' सब लोग अपने अन्तःकरणके राग-द्वेषको निवृत्त करें; इसलिए ऐसा कहते हैं कि 'सबमें ब्रह्म ही पूर्ण है। ब्रह्मकी खोजके लिए व्यावृत्त ब्रह्मका अनुसन्धान और सम्पूर्ण विश्वसृष्टिमें रागद्वेष-रहित स्थिति उत्पन्न हो, उसके लिए सबमें ब्रह्मका अनुसंधान' यह प्रयोजनके अनुसार तत्त्व-दर्शन है।

आजकल लोग प्रयोजन-प्रधान हो गये हैं। पहले सोचते हैं—'क्या लाभ है? 'तुलसीका पत्ता खानेमें क्या लाभ है? तुलसीका पत्ता खानेसे बुखार नहीं आयेगा। इन प्रयोजनवादियोंके लिए भौतिक सृष्टि ही सब कुछ है, आध्यात्मिक सृष्टि

है ही नहीं। यह कितनी अधूरी दृष्टि हुई ? अब एकने कहा तुलसीका पत्ता खानेसे शरीर चाहे मरे-जरे, हमारी आध्यात्मिक उन्नति होनी चाहिए तो यह आध्यात्मिक दृष्टि भी अधूरी है, पार्टीबन्दी है। आधिभौतिक, आध्यात्मिक और अधिदैविक तीनों साधनाके क्षेत्र में केवल पार्टी हैं।

कोई कहते हैं सबका सब आध्यात्मिक है, आधिभौतिक कुछ नहीं है; तो दूसरे कहते हैं तत्त्वज्ञान कुछ नहीं है, व्यवहार कुछ नहीं है, आओ हमारे देवताकी पूजामें लग जाओ और चौबीसों घंटे पूजा-पत्री ही करो। यह क्या है ? 'अन्धन्तमः प्रविशन्ति'—यजुर्वेद संहिता।

जिसके लिए आधिभौतिक साध्य है और आध्यात्मिक तथा आधिदैविक सहायक हैं उसको आधिभौतिकमें राग होनेके कारण ऐसा हुआ। कोई कहे कि "ज्ञान ही सब कुछ है; आओ, हम भीतर बैठें। आधिभौतिक कुछ नहीं है और देवताकी पूजा भी कुछ नहीं है" तो यह भी पार्टी है। एक वैराग्य-पार्टी है तो दूसरी राग-पार्टी है। जहाँ भी केवल देवता, केवल अधिभूत या केवल अध्यात्मको महत्त्व दिया जाता है वहाँ पूर्णता नहीं है, ये तीनों अपूर्ण दृष्टियाँ हैं। दृष्टिमें पूर्णता तब आती है जब तीनोंमें वही एक देखा जाय। दीखनेवाले फूलमें, देखनेवाली आँखमें और सूर्यमें एक ही रोशनी है। अध्यात्म आँख, अधिभूत फूल और अधिदैव सूर्य तीनोंकी एकता अनिवार्य है। यदि सामने फूल नहीं है तो आँख और सूर्यके रहते भी वह नहीं दीखेगा। किन्तु उसके न दीखनेके कारण आँख फोड़नेकी जरूरत नहीं है। तीनोंपर दृष्टि रखना पूर्ण दृष्टिमें आवश्यक है। यह दृष्टि हमें तत्त्वज्ञानसे मिल सकती है। हिमालयके ऊपरी भागमें जो तत्त्व है वही बम्बईके कारखानेमें है। 'आँख बन्द हो तो

ब्रह्म दीखे और आँख खुले तो ब्रह्म भाग जाय' ऐसा तत्त्वज्ञानमें नहीं है। उसमें तो आँख खुली हो चाहे बन्द हो, सर्वत्र ब्रह्म दीखता है।

यदिहास्ति तदमुत्र
यदमुत्र तदन्विह।

—कठोप०

जो यहाँ है वही वहाँ है, वहाँ है वही यहाँ है। यहाँ-वहाँका अंतर मीलों, वर्षों या वस्तुकी स्थूलतामें नहीं बांटा जाता। यह तो आंखकी अपेक्षासे स्थूल-सूक्ष्मका भेद बनता है। हम अनुभव करते हैं कि हमारी आंख अमुक हदतक देख सकती है और उसके परे नहीं देख सकती। इसमें स्थूलता और सूक्ष्मता कल्पना है। ऐसे ही काल और देश कल्पना है। जिसको हम परोक्ष परमात्मा कहते हैं वह इसी रूपमें इस सृष्टिमें मौजूद है और जिसको हम सृष्टि देख रहे हैं वह वही परमात्मा है। दोनों दो स्थानोंमें नहीं है। स्वर्गमें परमात्मा है और धरतीपर हम रहते हैं ऐसा भेद हमारे और परमात्माके बीचमें नहीं है। परमात्मा वर्षों पहले तो था किन्तु अब नहीं है ऐसा भी नहीं। कलेजेमें तो परमात्मा है और आंखोंके सामने नहीं है ऐसा भी नहीं है। आंखोंके बाहर या भीतर है ऐसा भी नहीं। पहले था, अब नहीं, अब है, पहले न था यह भेद-विभेद हम परमात्माको न जानकर करते हैं। जो यहाँ है, वही वहाँ है—'यदमुत्र तदन्विह।'

इसका तात्पर्य है कि हम परमात्माको पहचानते नहीं। इसी रूपमें, इसी हृदयमें होनेपर भी हम उसे न पहचानकर भेद करते हैं कि 'परमात्मा यह है, यह नहीं है' इसी कारण राग-द्वेष, वैमनस्य, संघर्ष आते हैं, बड़े-बड़े युद्ध होते हैं। वे लोग समझते हैं कि यह वर्तमान परिस्थिति जो है; वह परमात्मरूप नहीं है और आगामी परिस्थिति

जो है वह परमात्मरूप है। 'आगे आयेगा सो ठीक; अब है वह 'खराब' या 'आगे आयेगा सो खराब और अब है सो ठीक'—इसी मनोभावनासे भेद करके द्वन्द्वकी सृष्टि करते हैं। युद्ध, संघर्ष, वैमनस्यको मिटानेका सामर्थ्य यदि किसीमें है तो इसी तत्त्वदृष्टिमें है।

इस तत्त्वदृष्टिको न समझनेके कारण लोग धर्मका तत्त्व भी नहीं समझते। जब तत्त्वतः सब एक हो जाते हैं तो धर्म-अधर्मके भेद कल्पित हो जाते हैं। तब वैधानिक रूपसे धर्म-अधर्मका निर्णय होता है। विधि हो, वह धर्म होगा और अवैध हो वह अधर्म होगा। मनुष्य जब वैध-अवैधका रहस्य न समझेगा तो रागद्वेषकी सृष्टि कर बैठेगा। असली तत्त्वको नहीं समझेगा तो वह धर्मका स्वरूप नहीं समझेगा। यदि कोई वस्तुके गुणमेंसे धर्म निकालेगा और दोषमेंसे अधर्म निकालेगा तो रागद्वेषका शिकार होगा।

जब इस तत्त्वदृष्टिको हम अपने साथ रखते हैं तब तो हम कहते हैं—"भाई, इस देशमें, इस कालमें, इन लोगोंके लिए यह धर्म है और वह अधर्म है।" विभागके द्वारा धर्म-अधर्म बनता है। तब पूर्वमीमांसामें जो धर्मके लक्षण बताये हैं वे समझमें आ जायंगे। एक ही क्रिया विहित होनेपर धर्म, अन्यथा अधर्म मानी जाती है। क्रियामें गुण-दोषकी सचाई देखकर धर्मका निर्णय नहीं होता। इसीलिए आजका समाज तत्त्वदृष्टिसे रहित होनेके कारण बड़े-बड़े वैज्ञानिक, प्रोफेसर और नेता, विद्यामें प्रसिद्ध बड़े-बड़े लोग भी और साधारण समाज भी जब वस्तुमें गुण-दोष देखकर धर्माधर्मका निर्णय करने लगते हैं; तब थोड़ी देरके लिए उनका वह निश्चय ठीक रहता है, बादमें वह संघर्षका हेतु बन जाता है। इसलिए यह कहना होगा कि वस्तुके गुण-दोषके अनुसार नहीं, विधानके अनुसार

धर्मका निर्णय होता है।

इसे समझनेके लिए—मान लो कि एक स्त्री बड़ी सुन्दरी, शीलवती, गुणवती है और यह माना जाय कि उसमें सुख ही ही सुख भरा है और यह स्त्री हमारी भोग्या है या ऐसी योग्यतावाला पुरुष हमारा भोग्य है तो हो सकेगा ? तब विधानकी शरण लेनी पड़ेगी। भोजनमें आयुर्वेदके अनुसार अनेक वस्तुओंमें गुण होते हैं; वहाँ भी विधान है। अमुकके लिए जो गुण है वह अमुकके लिए दोष है। वस्तुके गुणदोषका बौद्धिक निर्णय करके या वैज्ञानिक अनुसंधानसे धर्मका निर्णय नहीं होता। बल्कि तत्त्वदृष्टिसे सब एक है। इसलिए रागद्वेष न करके विधानके अनुसार धर्म-अधर्मका निर्णय होता है। हमारी दृष्टि सत्यपक्षपातिनी है। प्रमाणसे प्रमेयकी सिद्धि होती है। यह ठीक है, परन्तु प्रमेयके यथार्थ स्वरूप ज्ञानके बिना वह अकिञ्चित्कर है। दोनों अन्योन्याश्रित हैं। अतः प्रमाण और प्रमेयका सम्बन्ध अनिर्वचनीय ही है। तत्त्वज्ञानी महापुरुषोंने निर्णय किया कि न प्रमेयके अधीन प्रमाण है और न प्रमाणके अधीन प्रमेय है। विचारको पूर्णसत्ता देना अनिर्वचनीयताका कारण है, विचारसे पलायन नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय जगत्में और अन्तर्ब्रह्माण्डीय जगत्में प्रागैतिहासिक समयमें और भविष्यमें शान्ति स्थापित करनेवाली, सर्व मज़हबोंमें पशु-पक्षी प्राणी और मनुष्यमें शान्तिका दर्शन करनेवाली यह तत्त्वदृष्टि है।

हमारा यह अनुभव है कि यदि यह तत्त्वदृष्टि प्राप्त हो जाय तो आगे कुछ होगा ऐसी परोक्ष-सत्ताका भय नहीं रहता। फिर कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता, आत्मसत्ताके सिवा कुछ शेष नहीं रहता। सम्पूर्ण ज्ञातव्योंकी इसमें परिसमाप्ति हो जाती है। यह तत्त्वदृष्टि सत्यके निरूपणकी

दृष्टिसे, आचार-व्यवहारकी दृष्टिसे, प्रमाण-मीमांसाकी दृष्टि-से, स्वरूप दृष्टिसे, तत्त्वदृष्टिसे सर्वथा परिपूर्ण है। आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों जो विद्वान् होंगे, जो अनुभवी होंगे, जो निष्पक्ष होंगे, जो तत्त्वका सचमुच अनुभव करना चाहेंगे, उन्हें एक न एक दिन स्वीकार करना ही होगा। स्वीकार करनेपर भी यह सत्य तो हमेशा प्रज्वलित रहेगा, देदीप्यमान रहेगा। ० ०

[संकलन, द्वारा-सुश्री उर्वशी जे. सुरती एम. ए. पी.एच.-डी.]

*

मोरपंखका जादू

सूंघैं न सुबास, रहै अंगराग ते उदास
भूलि गई सुरति सकल खान-पान की।
कवि मतिराम इकटक अनमिख नैन,
बूझै न कहत बैंन समुझै न आन की॥
थोरी सी हंसनि और ठगौरी ऐसी डारी ठग
बौरी करी भोरो तें किसोरी बृषभान की।
तब ते बिहारी वह, भई है पखान जैसी
जब ते निहारी छबि मोर के पखानकी॥

—मतिराम

छठी अमृतवृष्टि

पांचवी अमृतवृष्टिमें जिसके स्वरूपका निरूपण किया गया है वही भजन-विषयक रुचि अत्यन्त प्रौढतम होकर जब भजनीय भगवान्‌को अपना विषय बनाती है, तब आसक्तिके नामसे कही जाती है। भक्तिरूप कल्पलताका मुकुल है यही आसक्ति। इसीसे भाव और प्रेमरूप पुष्प तथा फल शीघ्र ही प्रकट हो जायंगे। यह सूचना मिल जाती है। 'भजनमें रुचि होती है और भगवान्‌में आसक्ति' यह बात केवल प्रधानताकी दृष्टिसे कही जाती है। वस्तुतः दोनों ही दोनोंकी विषय करती हैं। अब प्रौढताके कारण रुचि कहते हैं और अप्रौढताको आसक्ति। आसक्ति ही अन्तःकरणके दर्पणको ऐसा परिमार्जित-परिष्कृत कर देती है कि एकाएक उसमें भगवान् प्रतिविम्बित होने लगते और प्रत्यक्षसे दीखने लगते हैं। भक्तिकी पूर्वदशामें जब भक्त देखता है 'हाय! हाय! हमारे चित्तपर विषय आक्रमण कर रहे हैं, तब वह उसे भगवान्‌में लगा लेता है। संकल्प करता है और प्रायः उसका मन भगवान्‌के रूप, गुण आदिमें विष्ट हो जाता है; परन्तु जब आसक्तिका उदय हो जाता है; तब किसी प्रकारका प्रयत्न या संकल्प करनेके पूर्व ही अपने आप उसका मन भगवान्‌में लग जाता है। जैसे प्रारम्भिक भक्तको इस बातका पता नहीं

चलता कि उसका मन भगवद्भजनसे निकलकर संसारमें कब चला गया। वैसे ही आसक्ति होनेपर भक्तको इस बातका पता ही नहीं चलता है कि उसका मन सांसारिक बातोंसे निकलकर भगवान्के रूप, गुण, लीलादिमें कब चला गया? आसक्तिकी यह दशा आसक्त पुरुषके ही अनुभवमें आती है। अनासक्त पुरुष इसको नहीं समझ सकता।

ऐसा भक्त प्राय: सबमें भक्तिभावका ही दर्शन करता है। प्रातःकाल सामनेसे किसीको आते देखकर भक्तजी पहुँच गये और बोले—ओहो! आपके कण्ठमें श्रीशालग्रामकी शिलाका सम्पुट है। आपकी रसना प्रतिपल पुनः पुनः श्रीकृष्णनोमामृतका आस्वादन कर रही है। आपका दर्शन ही मुझ अभागेको भागवत्प्रेम और भजनके लिए उत्साहित कर रहा है। बताइये आप किन-किन तीर्थोंमें गये? किनके किनके दर्शन किये? क्या क्या भगवत्सम्बन्धी अनुभव हुए। धन्य है धन्य है! आप तो अपनेको और जगत्को कृतार्थ कर रहे हैं। इसप्रकार आगन्तुकसे संलापपीयूपका कुछ क्षणतक पानकर भक्तराज आगे बढ़ते हैं। किसी औरको देखकर कहते हैं—ओहो! आप अपनी वेशभूषा और कक्षनिक्षिप्त मनोहर पुस्तक लक्ष्मीसे बड़े विद्वान् मालूम पड़ते हैं। आप दशमस्कन्धका एक श्लोक सुना दीजिये और उसकी अर्थामृतवर्षासे हमारे श्रोत्रचातकको जीवन दान दीजिये। इसप्रकार भगवतकी व्याख्यासे भक्तके शरीरमें रोमाञ्च होने लगता है।

इसके बाद भक्तराज दूसरी ओर चलते हैं और देखते हैं कि 'अहो! यह तो सभाकी सभा ही मेरे समस्त दुष्कृतका ध्वंस करनेवाली है' ऐसा कहकर दण्डवत् प्रणिपातपूर्वक प्रणति-विनतिमें संलग्न हो जाते हैं। परमभक्त विद्वान् सभापति आदर करने लगते हैं और संकोचसे सिकुड़कर कहीं पास ही बैठ जाते हैं। कहते हैं कि भिषकशिरोमणि आप तो त्रिभुवनको जीवनदान देनेवाले हैं और भवरोगके महावैद्य हैं। इस महा दीन अधमकी भी नाड़ी पकड़कर देखिये और रोगका निदान कीजिये। मेरे लिए पथ्य ओषध

बताइए। किसी महारसायनका प्रयोग करके मेरी अभीप्सा पूर्ण करने वाली सम्पुष्टि आप सम्पन्न कर दीजिये। भक्तजीकी आँखोंसे आँसुओंकी झड़ी लग जाती है। कृपादृष्टि और मधुर वाणीके निस्पन्दसे आनन्दित हो जाते हैं और वहीं पांच-छह दिन निवास करके फिर आगे बढ़ते हैं।

भक्तजी अपने आनन्दमें मग्न घूमते-फिरते कभी जंगलमें पहुँचते हैं देखते है सामनेसे बड़ी दूर कोई कृष्णसार मृग आरहा है। मनही मन सोचने लगते हैं यदि भगवान् श्रीकृष्णकी मुझपर कृपादृष्टि है तो यह हरिण तीन चार पग मेरी ओर आये—नहीं तो मेरी ओर पीठ करके जाये। इसप्रकार वह नैसर्गिक मृग-पशु-पक्षी-चेष्टाको भगवान्के अनुग्रह और निग्रहकी पहचान बना लेता है। कभी अनुकूल अनुभव करके सुखी होता है और कभी प्रतिकूल अनुभव करके दुःखी। किन्तु होते हैं उसके सब अनुभव भगवान्से सम्बद्ध। भक्त कभी-कभी किसी गाँवके पास पहुँचता है और देखता है छोटे-छोटे ब्राह्मण बालक खेल रहे हैं। उसके मनमें आता है 'अहो! कहीं सनक, सनन्दन, सनत्कुमारादि ही तो नहीं आगये हैं, जाकर बड़े आदरसे पूछता है—आप लोग कृपाकर मुझे बताइए श्रीब्रजराजकुमारकी प्राप्ति मुझे कब होगी? अब वे बालक कुछ भी बोल देते हैं या नहीं बोलते हैं तो वह उनकी चेष्टा और भाषणमें दुर्बोधता या सुबोधताकी कल्पना करके व्याकुल या आनन्दित हो जाता है।

कभी कभी वह अपने घरमें बैठा-बैठा भी अपार धनके लोभी कृपण वणिकके समान सोचने लगता है कि मैं कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? क्या करनेसे मेरी अभीष्ट वस्तु हाथ लगेगी? इसप्रकार कभी उसका मुँह मुरझा जाता है, कभी सोचता है, कभी सोता है, कभी उठता है, कभी बैठता। सगे सम्बन्धी पूछते हैं—भाई तुम्हें क्या होगया है? तब वह तभी गूंगेकी तरह हो जाता है। कभी अपने भावको छिपा लेता है अरे! कुछ तो नहीं। भाई-बन्धु कहते हैं कि इसकी बुद्धि ढक गयी, पड़ोसी कहते हैं कि यह जड़ हो गया, मीमांसक कहते हैं अरे यह तो मूर्ख है। वेदान्ती कहते हैं—यह भ्रान्त है। कर्मी कहते हैं—भ्रष्ट।

भक्तलोग कहते हैं कि इसे सर्वश्रेष्ठ सबसे मूल्यवान् पदार्थकी प्राप्ति हो गयी है। परन्तु अपराधी लोग हमेशा ही कहते हैं यह तो दम्भी है। भक्तको मान-अपमानका विचार सर्वथा नहीं है। वह भगवदासक्तिकी भागीरथीके प्रवाहमें आमूलचूल आमज्जन-निमज्जन कर रहा है। वस्तुतः उस भक्तके हृदयमें भगवान्की आसक्ति क्रीड़ा कर रही है।

सातवीं अमृतवृष्टि

जब वही आसक्ति सर्वोत्कृष्ट परिणामको प्राप्त होती है; तब उसका नाम रति अथवा भाव होता है। यह भाव ही भगवान्की स्वरूपभूत सच्चिदानन्दमयी शक्तियोंका कन्दलीभाव अर्थात् मुकुलित रूप है। इसीको भक्तिकल्पलताका उत्फुल्लप्रसून कहते हैं। इसका बहिरंग सौन्दर्य भी देव-दुर्लभ है। अन्तरंग सौन्दर्य तो मोक्षको भी तृण बना देता है। इसका एक परमाणु भी समस्त तमका उन्मूलन कर देता है और इसका फलता हुआ सौरभ मधुसूदन श्रीकृष्णभ्रमरको भी प्रणयनिमन्त्रण देकर ले आता है। और उनको प्रकट करनेमें समर्थ है। बहुत कहाँ तक कहें, इन्हीं भावोंसे सौरभित पलपलमें उदय होनेवाली चित्तवृत्तिरूप तिलपंक्तियाँ द्रवित होकर तत्काल सम्पूर्ण भगवदंगको स्निग्ध बनानेकी योग्यता रखती हैं। यह भाव प्रकट होते ही अपने आधार श्वपचको भी ब्रह्मारुद्रेन्द्र—वन्दित बना देता है। इस भावके प्रकाशमात्रसे ही भक्तके दोनों नेत्र केवल व्रजेन्द्रनन्दनके अनङ्ग-तिरस्कारी अङ्गोंकी ही श्यामलता उनके अधर, नेत्रकोण, आदिकी ही लालिमा, उनके मुख-मुसकान चाँदनीकी ही श्वेतिमा, उनके वस्त्राभूषणकी ही पीतिमाका आस्वादन करनेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित एवं रसीले हो जाते हैं तथा अजस्र अश्रुबिन्दुओंसे अपने आपका अभिषेक करने लगते हैं।

इस भावके उदय होते ही क्षण-क्षणमें कण-कणमें जीवन-बन तथा रण-मरणमें भी स्थान-स्थानपर केवल उनकी मुरलीका ही मधुर-मधुर संगीत, उनके कंकण किङ्किणी नूपुरकी रुन झुन, उनके कण्ठका कलालाप

उनके चरण-कमलकी सेवाका आदेश और उनकी किसी भी लीलाका कुण्डलीकरण स्थिर खड़े होकर चाहने लगते हैं। अहो ! कैसा है उनके करपल्लवका स्पर्श मानो अभी अनुभव हो रहा हो। शरीर रोमांचित हो जाता है। नासिका युगलको ऐसा अनुभव होता है, मानो उन्हींके अङ्गका सौरभ्य मिल रहा हो। वे क्षण-क्षणमें प्रफुल्ल होते हैं और लम्बी सांस ले-लेकर पहिचानते हैं। कभी-कभी रसना 'हाय ! हाय ! मुझे उस अधरसुधाका रसास्वादन प्राप्त होगा क्या ?' ऐसा सोचती है और मानो अभी अभी उपलब्ध हो रहा हैं; इस भावसे उल्लसित होकर ओष्ठ और अधरोंको चाटने लगती है। कभी कभी हृदय स्फूर्तिमें उनको प्राप्त करके हृष्ट होता है। कभी उनके माधुर्यास्वादनकी सम्पत्तिसे मतवाला हो जाता है; कभी उनके तिरो-भावसे विषादग्रस्त होता है। उन्हींके लिए कभी खिलता है—कभी मुरझाता है। इसप्रकार संचारिभावोंसे अपनेको अलंकृत करता हुआ शोभायमान होता है।

बुद्धिका यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि यही एकमात्र अविनाशी परमार्थ है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सब दशामें उसकी स्मृतिपथमें ही पथिक रहनेका निश्चय करता है। भगवत्सेवाके लिए उपयोगी सिद्ध देहका उदय होने लगता है और अहंता उसीमें प्रविष्ट होती हुई-सी प्रायः साधक शरीरका परित्याग-सा करने लगती है। ममता उसके चरणारविन्द-मकरन्द-की मधुकरी होना चाहती है। वह भक्त अपने भावको जनतासे वैसे ही गुप्त रखना चाहता है; जैसे कोई कृपण मिले हुए महारत्नको। फिर भी उसके जीवनमें शान्ति, वैराग्य आदि सद्गुण आकर जम जाते हैं। इसलिए सुधी-साधु सज्जनोंकी गोष्ठीमें उसकी पहचान हो जाती है—क्यों न हो चमकता हुआ ललाट ही छिपे हुए धनीको सूचित कर देता है। दूसरे लोग तो उस विक्षिप्त अथवा उन्मत्त ही समझते हैं; इसलिए लोगोंसे पहचाना नहीं जाता।

वह भाव दो प्रकारका होता है। एक रागा-भक्तिसे उत्थित और

दूसरा वैधी भक्तिसे। पहले भावकी जाति और प्रमाणमें अधिकता होती है। वह माहात्म्यज्ञानका अनादर कर देता है और ासमान्यकी अपेक्षा अधिक विशेष होता है। साथ ही गम्भीर एवं अटूट अर्थात् प्रगाढ़ होता है। दूसरा भाव पहले-पहल कुछ न्यून होता है और ऐश्वर्य-ज्ञानसे विद्ध ममतासे युक्त होनेके कारण इतना प्रगाढ़ नहीं होता। ये दोनों ही प्रकारके भाव माधुर्य एवं ऐश्वर्यकी वासनासे युक्त भक्त-हृदयमें प्रकट होकर दो प्रकारसे आस्वाद्य होते हैं। जैसे एक ही मिठास आम, कटहल, गन्ना और अंगूर आदिमें प्रविष्ट होकर भिन्न-भिन्न प्रकारके रसास्वादका हेतु बनती है, वैसे ही यह भाव भी हृदयभेदसे नाना रूप धारण करता है।

वे भक्त शान्त, दास, सखा, माता-पिता और प्रेयसी-भाववाले पाँच प्रकारके होते हैं। शान्तोंमें शान्ति, दासोंमें प्रीति, सखाओंमें सख्य, माता-पितामें वात्सल्य और प्रेयसीभाववालोंमें प्रियता रहती है। यह केवल नामका भेद है। यही भाव अपनी शक्तिसे ही विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी, संचारी सबको प्रकट कर देता है। फिर प्रकृतिसे उद्भूत ऐश्वर्य होकर आत्मा अथवा राजाके समान स्थायी हो जाता है और विषेशताको प्राप्त होकर उन उनके साथ शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और उज्वल नामकी पाँच रसोंके रूपमें प्रकट होता है। स्वयं श्रुति भगवतीके 'रसो वै सः' इस रूपमें इसीका वर्णन किया है। इसीके सम्बन्धमें यह बात कही गयी है, कि 'रसं ह्यायं लब्ध्वा आनन्दी भवति' इस रसकी उपलब्धिसे ही जीव आनन्दी होता है। यह रस दूसरे अवतार या अवतारीमें संभव होनेपर भी कहीं भी पूर्णताको प्राप्त नहीं होता। स्वयं व्रजेन्द्रनन्दनमें ही अपनी पराकाष्ठापर पहुँचता है। जैसे नद, नदी, तडाग आदिको जलनिधि कहनेपर शक्य होनेपर भी वास्तविक जलनिधित्व समुद्रमें ही है। यह रसभावकी प्रथम परिणतिमें ही प्रेमके आविर्भावमात्रसे मूर्त्त हो जाता है और स्थायी भावयुक्त भावुक भक्तके द्वारा साक्षात् अनुभव किया जाता है। ० ०

[इस लेखकका सर्वोत्तम, अत्यन्त मधुर अन्तिम भ्युंश अष्टम अमृतवृष्टिको आगामी अङ्कमें पढ़िये—सम्पादक]

वेद-स्वरूप-जिज्ञासा

❀

पद्मविभूषण

पं० श्रीगोपीनाथ कविराज

❀

(गतांकसे आगे)
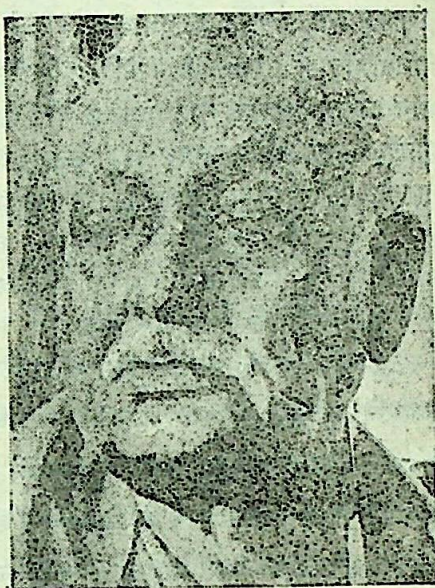
लेखक

सभी क्रियाएँ निर्विशेष सभी मन्त्रोंसे नहीं की जा सकतीं, जैसे कि श्रोत्रेन्द्रियसे दर्शनादि क्रियाएँ। इसतरह स्पष्ट है कि देहविशेषसे साध्य क्रिया-विशेष जिस किसी देहसे सम्पादित नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि ब्राह्मणस्वरूपके प्रदर्शनार्थ महाभाष्यकार पतञ्जलि कहते हैं:

'तपः श्रुतं च योनिश्च त्रयं ब्राह्मणकारणम्।

तपः श्रुताभ्यां यो हीनो जाति ब्राह्मण एव सः॥

(महाभाष्य २.२.६)

इसप्रकार वेदका स्वरूप जाननेके लिए प्राचीन आचार्योंने क्रम बताया, वह निम्नलिखित है:

(क) सर्वप्रथम द्विज-कुलमें जन्म ग्रहण, जिससे उस देहकी प्राप्ति होगी, जिसके द्वारा तपस्या की जा सके और ब्रह्म-बीज व्यक्त हो।

यद्यपि सभी देह हैं तो पाञ्चभौतिक ही, फिर भी सूक्ष्म संस्थान-भेदसे उनमें परस्पर भेद पाया ही जाता है। रजोवीर्यके परिणाम-स्वरूप षाट्कौशिक (छह कोशोंवाली) देह तो वास्तवमें विन्दुका विकार है और बिन्दुको नाभिके अधः स्वत्व, ऊर्ध्वस्वत्व आदि भेदोंसे औपाधिक नाना माना गया है।

ऊर्ध्वबिन्दुके, अधःपात द्वारा, रजसे संसृष्ट होनेपर जो देह वनती है, उसमें आपाततः बिन्दुके अधोदेशस्थित होनेपर भी उसमें नाभिचक्रके भेदन-क्रमसे ऊपरकी ओर उत्थान करनेकी स्वरूप-योग्यता है। अतएव वहाँ संस्कार आदि द्वारा ऊर्ध्वोत्थितिका मार्ग खोला जा सकता है। नाभिके अधःस्थित विन्दु द्वारा निर्मित देहमें तो विन्दुका उन्नयन असम्भव ही है। ❀

(ख) तदनन्तर संस्कार किया जाता है, जिसपर शक्तिकी ऊर्ध्वगति निर्भर है।

नाभिग्रन्थिके उन्मोचनके पश्चात् रेतस्‌का जो ऊर्ध्व प्रसरण है, वही ब्रह्ममार्गमें चित्तका सञ्चार है। तात्त्विक दृष्टिसे वही वेदमार्ग-में स्थिति स्वाध्याय या वेदपाठ है।

उपनयनके पश्चात् यही प्रयत्नसाध्य तपोऽनुष्ठान है। इस कर्मसे ब्रह्मवीजका क्रमशः विकास होता है। यहाँ 'सञ्चार' पदसे शब्द ब्रह्म-

---

❀ किन्तु शक्तिकी महिमासे प्रकृतियोंके आपूरण द्वारा जात्यन्तर-परिणाम भी हो सकता है। उसका प्रकार योगभाष्य आदिमें द्रष्टव्य है। इस विषयमें दृष्टान्त रूपमें नन्दीश्वर, नहुष आदिकी देह-परिवृत्ति प्रस्तुत की जा सकती है। महायोगी ब्राह्मणोंके वरदानसे भी, दुष्कर होते हुए भी, कदाचित् ऐसा परि-णाम संभव होता है। गृत्समदके पिता वीतहव्यको भृगुमुनिके वरसे ब्राह्मण्य प्राप्त होना, इस विषयकी पुष्टि करता है।

में ही गमन समझना चाहिए। प्राचीन आचार्योंने इस अवस्थाका 'ब्रह्मचर्य'नामसे वर्णन किया है।

(ग) अन्ततः आवृत्तिवशात् नादात्मक शब्द ही मननादि व्यापारशील होता है, वही मनोवृत्ति आदिका अतिक्रमण कर चिदात्मक ज्योतिमें निवृत्त होता और पश्यन्ती रूपसे—स्वात्मसाक्षात्कार रूपसे आविर्भूत होता है। ऋषित्व-प्रापक इस अवस्थामें जब वेदस्यरूपकी उपलब्धि हो जाती हं, तो चिरकालके लिए स्वात्मावरण नंष्ट हो जाता है, सर्वाधिकार-निवृत्ति हो जातो है, और चिद्रूप ब्रह्मको जानकर जीव अन्वर्थ 'ब्राह्मण' बन जाता है।

अतएव निरुक्त-परिशिष्टमें यह जो कहा गया है कि 'जिसे ऋषित्व प्राप्त नहीं हुआ या जो तपस्वी नहीं, उसे वेदका साक्षात्कार ही नहीं होता (···नह्येषु प्रत्यक्षमस्ति, अनृषे 'रतप्रसो वा') वह ठीक ही है।

अन्ततः ज्ञानोदय होता कैसे है ? यह प्रश्न उपस्थित होनेपर किरण-संहितामें उसके तीन उपाय बताये हैं; जिनमें एक है गुरु, दूसरा शास्त्र और तीसरा स्वयम्। आचार्य अभिनव गुप्तने भी इस कथनका समादर करते हुए सबहुमान ग्रहण किया है। वहाँ गुरु शास्त्रके लिए उपाय है और शास्त्र अपने स्वयंके ज्ञानमें उपाय है, यह क्रमविवेक किया गया है। स्वपरामर्श तो कहीं भी उपाय नहीं हो सकता। 'ग्रहण करनेके बाद जिसका त्याग आवश्यक होता है वही उपाय कहलाता है' इस नियमसे गुरु और शास्त्र ही उपाय हो सकते हैं। साथ ही उपाय होनेसे वे गौण भी हैं। किन्तु स्वपरामर्शका तो सर्वत्र प्रधान ही होता है। जिसके चित्तमें गुरु या शास्त्रकी अपेक्षा न रखते हुए स्वपरामर्श उदित हो जाय, उसका अधिकार सार्वत्रिक और अप्रतिहत जानना चाहिए। गुरुको बिना पाये और शास्त्रोंको बिना पढ़े उसे स्वयं ही शास्त्रार्थका ज्ञान हो जाता है। शुद्ध

विद्याका यही महत्त्व है कि वह निरन्तर सत्यका ज्ञान कराती है, असत्यका नहीं। इस विषयमें श्रीपूर्वागमका निम्नलिखित वचन भी प्रमाण है :

'सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चास्य जायते।'

लोकप्रसिद्ध गुरूपदेश और शास्त्रादिके न रहते हुए भी ज्ञानोदय होनेमें जो लोकोत्तर निमित्त है, वही है परमेश्वर शुद्ध विद्याका समुल्लास ! वही सर्व विषयक, सर्वथा अविषयक और अक्रम प्रातिभ महाज्ञानका, अपनी आत्माको साक्षात्कार कराती है, यह बात योगियों एवं ऋषियोंके समाजमें सुप्रसिद्ध है।

किसी भी अकृतात्मा (इस प्रकार कृतकृत्य न हुए) के लिए इस प्रकारका वेदज्ञान सर्वथा दुर्लभ है। इसके न रहते यदि कोई ग्रन्थ विशेषका अध्ययन कर स्वयंको स्वाध्यायशील बनानेवाले भी वास्तवमें वेदवेत्ताके रूपमें कथमपि परिगणनीय नहीं। वेदज्ञानकी पूर्वकोटि है, सर्वज्ञता और उत्तरकोटि है, आत्मज्ञता। वेदात्मक ज्ञानचक्षु खुल जानेपर जबतक वह पूर्वाभिमुख बना रहता है, तब-तक स्पष्टतया द्वैतात्मक विश्वका, पृथक् अस्तित्वरूपमें, विषयज्ञान होता ही रहता है। किन्तु प्रदक्षिण क्रमसे पूर्वाभिमुख वे नेत्र धीरे-धीरे उत्तराभिमुख हो जाते हैं। प्राङ्मुख नयनके उत्तराभिमुख होनेमें जो क्रम है, वही विषयोंकी उद्भासना- पूर्वक निवृत्तिका क्रम जानना चाहिए।

यहाँ प्रथम अनात्मभूत देहादिसे आत्मभाव मिट जाता है। तदनन्तर आत्मासे अनात्मभाव भी मिटता है। इसप्रकार द्विविध बन्ध नष्ट हो जानेपर शुद्ध स्वात्मा ही प्रतिष्ठित होता है, जो उस समय ज्ञान और अज्ञान दोनोंसे परे होता है। जीवकी यही दशा 'महाव्याप्ति' या 'परब्रह्मावाप्ति' कही जाती है। शब्द शुद्धिकी इतनी

वड़ी महिमाका विवेचन करते हुए श्रीभर्तृहरिने प्रकारान्तरसे यही वर्णित किया कि एकमात्र शब्दसंस्कार ही आत्मसिद्धिका कारण है।

स्वाध्यायके पुनः पुनः अनुष्ठानसे प्राण और अपानका आपेक्षिक साम्य सध जाता है। उस समय स्थूल वायुके सूक्ष्म हो जानेपर ब्रह्म-बिलमें धीरे-धीरे उसी सूक्ष्मवायुका सञ्चार होनें लगता है। उसके पश्चात् मन भी भूतावेश त्यागकर उसके भीतर प्रवेश करने लगता है। इन्द्रियोंके अधीन रहनेवाला, वहिर्मुख और संस्कारोंसे कलुषित मन उस ब्रह्मपथमें जब प्रवेश करता है, तो स्वयं ही इन्द्रियोंसे प्रत्याहृत हो जाता है। स्वाध्याय कालीन, प्रयत्नसे उत्पन्न शब्द, प्राण-और मनके विरत न होनेपर अनाहतके अङ्गभूत नादमय शब्दके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है, ठीक उसीतरह जिसतरह वायु-संक्षोभसे उत्पन्न तरङ्गे वायुके शान्त होनेपर जलके रूपमें विलीन हो जाती हैं। भीतर प्रवेश करता हुआ भी शब्दवायु और मनके क्रम-संस्कारवश अधिकाधिक संस्कृत होता है। यही अन्तःसंल्परूपा मध्यमा वाणीकी भूमि है। इसपर भी वाणीका संस्कार करनेपर अर्थंके साथ उसकी अविभक्तता प्रत्यक्ष दीखने लगती है। यही पश्यन्ती वाणी है, जो देवरूपा या स्वात्मशक्तिका समुल्लास हैं।

वास्तवमें मन्त्र चित्तसे स्वरूपतः अभिन्न होनेके कारण उसकी स्फूर्तिमय दिव्य ज्योति भी चित्तका ही एकाग्रता प्राप्त सिद्ध रूप होगा। जगह-जगह मन्त्रों और देवताओंका अभेद-वर्णन, मन्त्रका देवता विग्रहरूपमें वर्णन या चित्त एवं देवताका तादात्म्यवर्णन पाया जाता हैं, प्रायः ये सभी एकार्थंक ही हैं। वाणी और अर्थोंका नानात्व वाह्य दृष्टिसे सत्य होनेपर भी क्रमपर निर्भर है। क्रम तो व्युत्थित-दर्शन लोगोंको वस्तुपतितमें ही भासती है।

चिन्तामणि और सन्त कबीर

श्री परशुराम चतुर्वेदी

लेखक
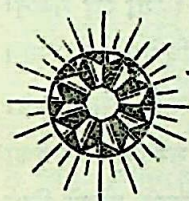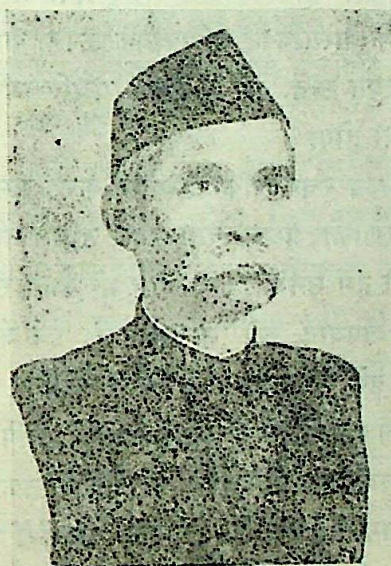
सन्त कबीरके लिए कहा जाता है कि वे पढ़ेलिखे नहीं थे। जातिसे एक साधारण जुलाहा थे तथा इसीके अनुसार वे, अपना कपड़ा बुनने तथा उसे बेचनेका व्यवसाय करते हुए, अपना जीवन-यापन किया करते थे। उनकी धार्मिक भावना भी, संभवतः साधु-महात्माओंके सम्पर्कमें आजानेके कारण, जागृत हुई थी और उन्हींके सत्संगसे

लाभ उठानेके फलस्वरूप, इन्हें किसी एक ऐसी आध्यात्मिक साधना-का संकेत मिल गया था; जिसे मनोयोगपूर्वक अपनाकर इन्होंने उस विलक्षण दशाका अनुभव भी कर लिया था जिसे इन्होंने सहजावस्था जैसा नाम दिया। इसप्रकार, जहाँतक अनुमान किया जा सकता है, सन्त कबीरको कभी किसी आध्यात्मिक ग्रन्थविशेषके अध्ययन अथवा उसपर मनन करनेका तो कोई अवसर ही नहीं मिल पाया होगा, उन्हें कभी वैसी किसी पुस्तकवाले पाठके सम्यक् श्रवणका भी कोई सुयोग उपलब्ध न हो सका होगा ! इस कारण हमारे लिए इतना और भी मान लेना कदाचित् युक्तिसंगत ही समझा जा सकता है कि अपने इष्टदेव परमतत्त्व, उसकी अनुभूति-विषयक सहज साधना अथवा अन्य ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंसे सम्बन्धित शब्दों तथा उनके विभिन्न पर्यायोंका, अपनी वानियोंमें, प्रयोग करते समय, उन्होंने उनपर कभी पूरा ध्यान नहीं दिया होगा और न, वैसे प्रायः पारि-भाषिकसे बन गये अनेक शब्दोंके वास्तविक अभिप्रायके ऊपर, कभी कोई विचार ही किया होगा प्रत्युत उन्हें, वैसे ही केवल प्रचलितमात्र समझकर अपने काममें ला दिया होगा।

परन्तु, सन्त कबीरकी उपलब्ध रचनाओंका अध्ययन करते समय हमारे लिए इसप्रकारकी धारणाको प्रश्रय देना सदा उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि कभी-कभी हमें उनमें एकाध ऐसे भी उदाहरण मिल जाते हैं जो इसके स्पष्ट अपवाद कहे जा सकते हैं, इन जैसे कतिपय प्रयोगोंको देखनेपर हमें जान पड़ता है कि ये यहाँपर न केवल अनेक शब्दोंके व्युत्पत्तिमूलक अर्थकी ही चर्चा करते हैं, अपितु इनके द्वारा अभिप्रेत किसी अनुपम भाव-सौन्दर्यका परिचय देनेतकमें भी तल्लीन बन गये हैं। हमें लगता है कि इसप्रकारके अवसरोंपर इनकी पैनी दृष्टि वैसे शब्दोंका केवल निरीक्षणमात्र करके ही नहीं

रुक जाती, प्रत्युत ये उनका भावगत निरीक्षण भी करने लग जाते हैं तथा कभी-कभी, उनका विश्लेषण तक करनेकी चेष्टा करते हुए, उनके प्रत्येक अंशकी भावनापर विचार करते अथवा उसकी व्याख्या करते दीख पड़ते हैं। किसी महत्त्वपूर्ण शब्दके गूढ़ आशयका स्पष्टी-करण करनेके लिए उसके अर्थके किसी विस्तृत विवेचनमें लग जाना कोई वैसी बात नहीं है और न हम, ऐसे प्रसंगमें, किसी वैसे प्रती-कात्मक समाधानको ही उतना महत्त्व दे सकते हैं जो, संतोंवाले साहित्यके अन्तर्गत साधारणतः माना जाता है तथा जिसके कारण उसे प्रायः नीरस तक भी मान लिया जाता है। ऐसा करना तो प्रत्येक धर्मोपदेशकके लिए, अपनी बातोंको सर्वसाधारणके सामने रखते समय, आवश्यक हो जा सकता है। ऐसे प्रयत्नको हम विशेष रूपमें उल्लेखनीय केवल वहीं ठहरा सकते हैं; जहाँ एक ओर तो उसके द्वारा उनमें निहित मर्म हृदयंगम करनेमें हमें सहायता मिल रही हो; वहाँ दूसरी ओर वैसा कथन करनेवाला उसमें स्वयं भी रमता हुआ-सा जान पड़े।

सन्त कबीर द्वारा प्रयुक्त 'चिन्तामणि' शब्दके विषयमें भी हमें एक इसीप्रकारका छोटा किन्तु सुन्दर उदाहरण मिल सकता है। इनकी प्रामाणिक समझी जानेवाली उपलब्ध एवं प्रकाशित रचनाओं-में इस शब्दका अधिक प्रयोग नहीं पाया जाता, जहाँतक पता चलता है, 'कबीर ग्रन्थावली' (काशी संस्करण) में प्रकाशित साखियोंके अंतर्गत यह शब्द केवल दो एक स्थलोंपर ही आया है और यह उसके पदोंमेंसे भी सात-आठसे अधिकमें नहीं दीख पड़ता। परन्तु फिर भी सन्त कबीर इसका व्यवहार, ठीक एक ही अर्थमें, करते नहीं जान पड़ते, प्रत्युत, उसमें निहित मौलिक भावका आधार लेकर, ये कभी-कभी अपनी स्वानुभूतिका परिचय देते, कभी उसके सम्बन्धमें-

उपदेश देते तथा कभी साधनाकी ओर भी इंगित करते हैं। 'चिन्तामणि' शब्दसे अभिप्राय साधारणतः किसी ऐसे कल्पित रत्नका समझा जाता है जिसके सहारे हम चाहे जिस किसीभी अभीष्टके विषयमें चिन्ता या भावना करें उसे यथावत् उपलब्ध कर सकें। इसप्रकार वह एक अनुपम माध्यमका काम देता है जो, यदि किसी प्रकार अपने हाथ लग जा सके तो, उसके द्वारा अपनी सारी अभिलाषाओंकी पूर्ति करा ली जाय, परन्तु, सन्त कबीरके 'चिन्तामणि' के लिए भी, हम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह या तो स्वयं वैसा 'रामरतन' है जो अपने 'घट भीतर' उपलब्ध किया जा सकता है अथवा प्रियतम 'हरि' है, जिसने इनका अपना 'जी चुरा लिया है'। वह अपने आप इनके उस अभीष्टका काम करता है जिसके लिए वे अपना सर्वस्व न्योछावर करके भी, प्राप्त करनेको तैयार हैं।

सन्त कबीर एक स्थलपर बतलाते हैं कि 'अरध उरध' चारों ओर जहाँ बाजार लगा हुआ है; वहाँ 'चौपड़' का खेल भलीभांति समझ-बूझकर खेलना होगा और उसी दशामें अपनी वाजी लग सकती है। मैंने तो इसी कारण 'प्रेमका पासा' अपने काममें लाया था और अपने शरीर अथवा पूरे जीवनको ही वाजीमें रख दिया था। मुझे अपने सद्गुरुने एक ऐसा 'दाव बतला दिया' कि मैं उसके अनुसार खेलनेमें बड़ी तत्परताके साथ प्रवृत्त हो गया।' फिर तो 'वैसे चौक बाजारके ही बीच पासा डालते समय, मेरे हाथ 'चिन्तामणि' अपने आप आगयी; अब हे भगवन्, कृपाकरके मुझे कहीं भटकने वा बहकने न देना।' इनका, इसीलिए, दूसरोंके प्रति भी कहना है कि 'रामचिन्तामणि' बड़े भाग्यसे हाथ लग पाता है, इसे अपने हृदय कमलके भीतर छिपाकर सुरक्षित रखना चाहिए तथा 'प्रेमकी गांठ देकर सुदृढ़ भी कर लेना चाहिए। इस एक 'नांव' अथवा रामनामके

ही भीतर अष्टसिद्धियों एवं नवनिधियोंका भी समावेश है' इत्यादि। जैसे,

राम भणि राम भणि राम चिन्तामणि,
भाग बड़े पायौ छाड़ै जिनि ।। टेक ।।
असंत सगति जिनि जाइरे भुलाइ,
साध संगति मिलि हरिगुन गाइ ।।
रिदा कमल मैं राखि लुकाइ,
प्रेम गांठि दे ज्यूं छूटि न जाइ ।।
अठसिधि नवनिधि नांव मंझारि,
कहै कवीर भजि चरन मुरारि ।। १२३ ।।

इसी 'चिन्तामणि' को ये अन्यत्र 'राम रतन' का भी नाम देते दीख पड़ते हैं और कहते हैं कि 'इसे मैंने अपने 'घट भीतर' ही पा लिया है' तथा इसकी सुरक्षाके लिए, ये दूसरोंके प्रति यहाँपर भी, सलाह देते हैं, 'अजी मानव, चिन्तामणिको प्राप्त कर लेनेपर तुम्हें सदा सचेत बना रहना चाहिए और, अपनी नींदका परित्याग करके, जागते रहना चाहिए जिससे चोर न लगे।' इनका यह उपदेश इनकी उस निजी अनुभूतिपर आधारित है जिसकी ओर इन्होंने उपर्युक्त संकेत कर दिया था।

परन्तु सन्त कवीरकी दृष्टिमें 'चिन्तामणि' केवल नामका—राम नामका ही महत्त्व नहीं रखता। यह स्वयं 'हरि'का—'राम'का भी स्थान ग्रहण कर लेता जान पड़ता है जैसा कि इनके निम्नलिखित पदसे भी प्रकट होता है। ये कहते हैं—

अब हरि हूँ अपनौ करि लीनौं, प्रेमभगति मेरौ मन भीनौं ।। टेक ।।
जरै सरीर अंग नहीं मोरौं, प्रान जाइ तौ नेह न तोरौं ।।

च्यंतामणि क्यूं पाइए ठोली, मनदे राम लियौ निरमोली ॥
ब्रह्मा खोजत जनम गवांयौ, सोई राम घट भी..र पायौ ॥
कहै कबीर छूटी सब आसा, मिल्यौ राम उपज्यौ विसवासा ॥३३४॥

इसीप्रकार ये अन्यत्र, अपने इष्टदेव 'माधव' को सम्बोधित करते हुए भी, निवेदन करते हैं—

माधौ मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति हेत नहीं साधी ॥ टेक ॥
करनि कौन आइ जग जनम्या, जनमि कवण सचुपाया,
औजल तिरण चरण च्यंतामणि, ता चित घड़ि न लाया ॥

—इत्यादि

जिससे स्पष्ट है कि ये, यहाँपर, उस आराध्यके चरणोंमें अपना चित्त न लगा पानेके कारण, पश्चात्ताप भी कर रहे हैं। इसके सिवाय ये एक स्लथपर इसप्रकार भी कहते हैं—

रामगति पार न पावै कोई
च्यंतामणिप्रभु निकटिछाड़ि करि, भ्रमि भ्रमि मति बुद्धि खोई ॥ टेक ॥

× × ×

नारि पुरुष वसैं इक संगा, दिन दिन जाइ अबोलै।
तजि अभिमान मिले नहीं पीवकूं, ढूंढ़त वन वन डोलै ॥ आदि ॥

इस चिन्तामणि हरिके प्रति अपने दाम्पत्यभावकी कल्पना करतेहुए ये, एक अन्य स्थलपर भी, उसकी अभिव्यक्ति बड़े सुन्दर ढंगसे करते हैं और किसी एक विरहिणी प्रेमिकाके शब्दोंमें, कहने लगते हैं

चलौ सखी जाइये तहाँ, जहाँ गये पाइये परमानन्द ॥ टेक ॥
यहु मन आमन धूमना, मेरौ तन छीजत नित जाइ।
च्यंतामणि चित चोरियो, तातैं कछू न सुहाइ ॥

सुनि सखी सुपिनैं की गति ऐसी, हरि आये हम पास।
सोवत ही जगाइया, जागत भये उदास।।
चलु सखी विलम न कीजिये, जब लग सांस सरीर।
मिलि रहिये नगनाथ सूं, यूं कहे दास कवीर।। ३०२ ।।]

जिससे प्रकट होता है कि ये अपने प्रेमपात्र चिन्तामणिके अनुपम सौन्दर्य एवं स्वभावके प्रति किस प्रकार अत्यधिक आकृष्ट हो चुके हैं तथा, इसीकारण, ये उसके लिए कितने अधीर तक बन गये हैं। चिन्तामणि, इनके लिए, यहाँपर न केवल कोरे 'नांव' 'रामरतन' अथवा किसी आराध्यदेव प्रभुका ही प्रतिनिधित्व करता है, प्रत्युत अपना कोई ऐसा प्रियतम तक बन चुका है जिसकी क्षणिक अनुपस्थिति भी इन्हें वेचैन कर देती है। यह वही 'पुरुष' है जिसके लिए इन्होंने, इसके पहले उद्धृत पदवाली दो अंतिम पक्तियोंमें, अपने 'पीव' की भी संज्ञा दी है तथा, जिसकी 'नारी' अपनेको मानते हुए, इन्होंने उस अपनी अपूर्व कसककी ओर भी संकेत किया है जिसका अनुभव, किन्हीं पतिपत्नीके एक साथ सदा रहते समय भी, उनके वीच परस्पर 'बोल चाल' न हो पानेके कारण, उत्पन्न हो जाया करती है।

इसप्रकार, सन्त कबीरकी रचनाओंके अंतर्गत, 'चिन्तामणि' शब्दको एक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया जान पड़ता है। इसके यहाँ पर किये गये विभिन्न प्रयोगोंपर विचार करनेपर हमें ऐसा लगता है कि यहाँ इसका व्यवहार, जहाँ तहाँपर, योंही नहीं कर दिया गया है अपितु, ऐसा करते समय, इसकी शब्दगत अथवा अर्थगत विलक्षणताओंकी ओर भी ध्यान दिया गया है। चिन्तामणि इनके यहाँ एक ऐसा 'निरमोली' (अनमो [ ) रत्न है जो अपने 'घट भीतर' वर्त्तमान रहता हुआ भी, किसीको उपलब्ध नहीं हो पाता। इसके लिए 'प्रेमका

पासा' डालना पड़ता है जिसमें अपना शरीर गोटीका काम करता है तथा मन अथवा सर्वस्वतकको भी बाजीमें लगा देना पड़ता है और तब कहीं सद्गुरुके 'दावका' सुझाव बतला देनेपर सफलता मिल जाती है। यह किसी साधारण कल्पित चिन्तामणि जैसा किसी अभीष्टका साधन नहीं है, यह स्वयं साध्यस्वरूप भी है। इसके सिवाय यह, अपना आराध्य इष्टदेव होनेकी दशामें भी, परम श्रद्धेय भगवान् जैसा हमसे पृथक् अस्तित्व नहीं रखता। यह अपने परम आत्मीय पतिके रूपमें, हमारे साथ एक और अभिन्न-सा बना हुआ सदा वर्त्तमान रहा करता है। ऐसे 'चिन्तामणि' शब्दके आदिमें जुड़ा हुआ इसका 'चिन्ता' वाला अंश हमारे 'चित्त' को उसका निरंतर 'चिन्तन' करनेके लिए प्रेरित करता रहता है; तथा हमें सदा 'सचेत' एवं सजग बने रहनेकी ओर भी उन्मुख किया करता है तथा, इसीप्रकार इसका दूसरा अंश 'मणि' भी किसी अमूल्य प्रकाशमान रत्नकी भांति, हमारे 'मन' को अनवरत आकृष्ट तथा आलोकित करते रहनेका बहुमूल्य साधन है।

अतएव सन्त कबीर, किसी 'दास' वा सच्चे भक्तका लक्षण बतलाते तथा तदनुसार उपदेश देते हुए भी, कहते हैं—

> चिन्तै तो माधव चिन्तामणि, हरिपद रमै उदासा।
> चिन्ता अरु अभिमान रहित ह्वै कहै कबीर सो दासा।।
> चिन्तामणि चितमें वसै, सोई चितमें आनि।
> बिन चिन्ता चिन्ता करै, इहै प्रभूकी बानि।।

आचार्य पं० श्री बलदेव उपाध्याय

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्

इस निबन्धमें धर्मका स्वरूप, उसका वैशिष्ट्य एवं प्राणियोंके लिए उसका उपयोग—इन विषयोंकी व्याख्या की जायगी। धर्म शब्द 'धृ' धातु (धृञ् धारणे) से निष्पन्न है, अतः 'धर्म धारणकारी है'—यह अर्थ प्रतीत होता है। संपूर्ण विश्वमें सभी पदार्थ एवं द्रव्योंके संयोग तथा एकत्र धारणसे जीवनका निर्वाह होता है। धर्मका उद्भव ही इस निर्वाहके लिए है। सूर्य, चन्द्र, तारामण्डल और पृथ्वी आदि पदार्थ परस्परके उपकार्य-उपकारक भावसे विधृत हैं और वे परमेश्वर द्वारा निर्दिष्ट अपने-अपने विशिष्ट कार्योंको करनेमें समर्थ होते हैं। मानवोंको अपने उत्कर्षके साधनके लिए समाजकी अपेक्षा है। समाजका समाजत्व इसीमें है कि वह विभिन्न प्रकारकी मानस-वृत्तियोंसे युक्त व्यष्टि मानवोंकी स्थितिका सामंजस्य करता है। यही कारण है कि धर्ममें ही समाजकी प्रतिष्ठा है; केवल मानव-समाजकी नहीं, प्रत्युत संपूर्ण जगत्की प्रतिष्ठा धर्ममें ही है। इस विषयमें यह श्रुतिवाक्य है—'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' (धर्म ही विश्वका आश्रयभूत है)।

चोदना लक्षण अर्थको धर्म कहा जाता है। चोदनाका अर्थ है—वेदप्रतिष्ठित मंत्र द्वारा प्रतिपाद्यमान प्रेरणा, जो विधिरूप है। धर्मका प्रतिपादन मुख्यतया वेदमें ही किया गया है। यही कारण है कि संप्रदायविद् आचार्य 'वेदकी अबाधित शक्ति है' ऐसा प्रतिपादन करते हैं। शाबरभाष्यमें कहा गया है—'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थं शक्नोति अवगमयितुम्।' वेदके प्रामाण्यसे ही स्मृतियों तथा लोक-प्रसिद्धि आदिका प्रामाण्य माना जाता है, क्योंकि स्मृति वेदमूलिका है और लोक-सिद्धि वेद-स्मृतिमूलक है। अपौरुषेय (जिसमें पुरुषकर्तृताका अभाव है) वेदके द्वारा प्रतिपादन होनेके कारण धर्मकी अपौरुषेयता अवश्य ही सिद्ध होती है। धर्म; देश या कालसे यथार्थतः परिच्छिन्न नहीं होता; देश और कालसे अपरिच्छिन्न होना ही धर्मका धर्मत्व है।

धर्मका लक्षण

'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः', अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति हो वह धर्म है। श्रुति द्वारा जो कर्म विधिरूपसे विहित होते हैं, वे धर्म हैं—ऐसा कहा जाता है। श्रुति द्वारा जो कर्म निषिद्ध होते हैं, वे अधर्म कहलाते हैं, क्योंकि धर्माधर्मकी व्यवस्थामें वेदका ही परम प्रामाण्य है। इस विषयमें भागवतमें व्यासका यह गंभीरार्थ प्रतिपादक वचन मिलता है—

> वेदप्रणिहितो धर्मः ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
> वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम।—६।१।४०।

धर्म चूँकि भगवत्प्रणीत है, इसलिए धर्मका ज्ञाता और बोद्धा एक भगवान् ही है, ऋषि, देव और सिद्ध नहीं; मनुष्य, विद्याधर, चारणादिकी तो बात ही क्या है? इस विषयमें भागवतमें यह कहा गया है—

धर्मं तु साक्षात् भगवत्प्रणीतं न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः ।
न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः कुतश्च विद्याधरचारणादयः ॥—६।३।१९

धर्मके आश्रयसे ही इस लोकमें प्राणियोंको अभ्युदय प्राप्त होता है; तथा परलोकमें निःश्रेयसरूप मुक्ति मिलती हैं। धर्मका जो विधारक-रूप है, वह महाभारतमें व्यास द्वारा अनेक वचनोंसे प्रतिपादित हुआ है, यथा—

धारणाद् धर्म इत्याहु धर्मो धारयते प्रजाः ।
यः स्याद् धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥—शान्ति० १०८।११ ।

धर्मका वैशिष्टच

धर्मका प्रथम वैशिष्टच है—अधिकारिभेदको स्वीकार करना। चूंकि मानवोंमें बुद्धि और स्वभाव आदिकी अत्यन्त भिन्नता है, इसलिए सभी लोग एक प्रकारके धर्मोपदेशका अनुवर्तन नहीं कर सकते हैं। जो धर्म योग्यतानुसार निर्दिष्ट किया जाता है, वही सदा हितावह और श्रेयस्कर होता है। सभी मनुष्य समान-योग्यतासे युक्त नहीं होते, क्योंकि मनुष्यगत सत्त्वादि गुणोंके परस्परके प्रति उपचय-अपचय होते रहते हैं, जिनसे मनोवृत्तियोंमें अनेकरूपता उत्पन्न हो जाती है।

कर्मसिद्धान्तको स्वीकार करना द्वितीय वैशिष्टच है। इस लोकमें जिस अवस्थावैषम्यका प्रतिदिन अनुभव होता है, उसका सामंजस्य कर्मसिद्धान्तसे ही किया जा सकता है। कुछ धनवान् सुखपूर्वक कालयापन करते हैं, कुछ लोग हीनावस्थामें रहकर क्लेशपूर्वक समय काटते हैं। इस दशा-वैषम्यका हेतु क्या है ? जब व्यक्तियोंके जनकरूप परमेश्वरमें तो किसीके प्रति निर्घृणताकी कल्पना नहीं की जा सकती, तब यही निश्चय करना पड़ता है कि अपनी अवस्थाके विपर्ययमें प्राणियोंका अपना कर्म ही कारण है। इन दो वैशिष्टचोंका आश्रय लेकर ही

सभी समस्याओंका समाधान विद्वान् कर सकते हैं।

अन्य मतमें अधिकारिभेदको स्वीकार न करनेके कारण उन मतोंके सभी अनुयायियोंके लिए समान ही उपदेश दिया जाता है। ऐसा उपदेश अत्यन्त अनुचित है। उन-उन मतोंके सभी अनुयायी समान बुद्धिवैभव युक्त नहीं होते हैं, अतः एक सामान्य ही धर्मका अंगीकार करना उचित नहीं होता है। कर्मसिद्धान्तको यदि अस्वीकार किया जाय तो सर्वत्र प्रतिदिन प्रतिक्षण अनुभूयमान व्यवहार-भेदका समर्थन किसी भी उचित तर्कसे किसी भी प्रकारसे नहीं किया जा सकता। इसलिए वेदप्रतिपाद्य धर्मका माहात्म्य विद्वज्जनोंको स्वीकार करना ही चाहिए, क्योंकि इस मार्गमें ही धर्मोपशमें अधिकारिभेद और कर्मसिद्धान्त स्वीकार किये गये हैं।

वैदिकधर्मका अद्वितीयत्व

धर्म एक है, वह चोदना प्रतिपाद्य वैदिक धर्म ही है। धर्म शब्दसे प्रायेण व्यपदिश्यमान अन्य धर्म वस्तुतः संप्रदायविशेष ही है। सम्+प्र उपसर्ग युक्त 'दा' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय करनेपर संप्रदाय शब्द निष्पन्न होता है। यह संप्रदाय शब्द गुरु परंपरागत या शिष्ट-परंपरागत उपदेशका वाचक है। इसी अर्थमें महाकवि माघने निम्नोक्त पद्यमें संप्रदाय शब्दका प्रयोग यथार्थतः किया है—

संप्रदायविगमादुपेयुषीरेष नाशमविनाशिविग्रहः।
स्मर्तुमप्रतिहतस्मृतिः श्रुतीर्दत्त इत्यभवदत्रिगोत्रजः॥—शिशुपालवध, १४।७९

इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि किसी विशेष गुण गौरवशाली आचार्य द्वारा देश-कालानुसार किसी देशमें जो सद् उपदेश किया जाता है, वह संप्रदाय है—ऐसा विद्वानोंका कहना है। धर्मका द्योतक तत्त्व है—सार्वभौमत्व, सार्वकालिकत्व और अद्वितीयत्व तथा देशकाल-के सम्बन्धसे कदाचित् ही स्थितिशाली होना संप्रदायका लक्षण है—

यह धर्म और संप्रदायका भेद है।

रिलीजन शब्दका वाच्य अर्थ संप्रदाय ही है। हिब्रूखीष्टीय-मोहम्मदीय धर्म संप्रदायमें ही अंतर्भूत होते हैं। ये सब संप्रदाय सनातन वैदिक धर्मके अंगभूत हैं। क्योंकि इनमें सनातनधर्ममें उक्त एकदेशीय धर्मोंका ही उपदेश मिलता है। भ्रातृभाव, परस्परके प्रति मैत्रीभाव, प्राणियोंकी परस्पर प्रेमपूर्वक सेवा—ये सब सभी धर्ममतोंमें पाये जाते हैं। यदि परम पुरुषार्थभूत मोक्षके साधक होनेके कारण धर्मके रूपमें लोकमें इन संप्रदायोंका व्यवहार किया जाये तो यह गौण व्यवहार होगा, क्योंकि इन धर्मोंमें परम्परा सम्बन्धसे ही मोक्ष-साधकत्व है।

वैदिकधर्म सभी मतोंका उपजीव्य है

वैदिक धर्म सभी मत और संप्रदायोंका जनक है। यह मत केवल इसलिए नहीं कहा जा रहा है कि इन धर्मोंमें सत्य, अस्तेय, शौच आदि सदाचारके अंगोंकी उपलब्धि है, प्रत्युत अन्य संप्रदायोंमें स्वीकृत परमेश्वर-नाम भी वेदसे ही गृहीत हुए हैं—ऐसा देखा जाता है। यह तत्त्व तुलनात्मक भाषाविज्ञान-पद्धतिके अनुसार निश्चित रूपसे प्रमाणित किया जा सकता है। हिब्रूमत (जिसका प्रतिपादन बाइबिलके ओल्ड टेस्टमेंट नामक आदिम भागमें विशद रूपसे मिलता है) में परमेश्वरके जो 'यहोवा' 'यह्वेह्' इत्यादि विविध नाम प्रसिद्ध हैं, वे देववाचक वैदिक 'यह्व' शब्दका ही पूर्णतः अनुसरण करते हैं—यह भाषावैज्ञानिक दृष्टिसे प्रतिभात होता है। ऋग्वेदके कई मंत्रोंमें 'यह्व' शब्दका प्रयोग है—

विश्पतिं यह्वमतिथिं नरः ।—।३।३।८

प्रवो यह्वं पुरूणां विशां देवयतीनाम्

अग्निं सूक्तेभिर्वचोभिरीमहे यं सीमिदन्य इलते ।—१।३६।१

यह 'यह्व' शब्द 'महत्' के नामोंमें निघंटुमें पठित हुआ है (३।३)। 'यह्व' का अर्थ है—महान्। इसके व्याख्यानभूत निरुक्त वाक्य 'यात्तश्च हूतश्च भवतीति' (८।८) से यही सिद्ध होता है। 'या' और 'ह्वे' इन धातुद्वयसे 'गेहे कः' (३।१।१४) इस सूत्रसे 'बहुल' करके 'क' प्रत्यय कर संप्रसारण होकर 'यह्व' शब्द सिद्ध होता है, ऐसा स्कंदस्वामी कहते हैं। जो यात है तथा प्रार्थियों द्वारा हूत होता है वह 'यह्व' है। वह देव याजकों द्वारा अधिगत होता है एवं प्रार्थना-स्वीकारके लिए बहुधा उनका आह्वान किया जाता है—यह इस शब्दका तात्पर्य है। इससे उस देवकी अतिशय महत्ता सिद्ध होती है।

हिब्रूमतमें परमेश्वरका विख्यात अभिमान रोमनलिपिके अनुसार Jchovah है। इस शब्दमें जो जे है, उसका उच्चारण 'य' होता है—यह भाषातत्त्वविद् कहते हैं। पहले परमेश्वरका नाम किसीके द्वारा उच्चरित नहीं होता था, क्योंकि नाम अत्यन्त पवित्र माना जाता था; पर कुछ काल बाद उनका 'यह्वे' या 'यह्व ह्' नाम हो गया। इस नामका अर्थ है—परम महान्। इस शब्दकी व्युत्पत्तिके विषयमें विद्वानोंमें संदेह है। हिब्रूभाषाके 'हाव ह्' धातुसे यह शब्द निष्पन्न हुआ है, जिससे उसका अर्थ 'स्वयंभू' होता है। पर यह व्युत्पत्ति सभी भाषा तत्त्वविदोंको मान्य नहीं है। मैं समझता हूँ कि वैदिक 'यह्व' शब्दका प्रतिरूप ही यह शब्द है।

ख्रीष्टीय मतमें परमेश्वरका विधान गॉड (God) है। प्राचीन टयूटानिक भाषामें प्रयुक्त 'घूतोम्' शब्दसे यह शब्द निष्पन्न हुआ है। यह घूतो–म् शब्द संस्कृत हूत शब्दसे निष्पन्न हुआ है—यह महाप्रामाणिक आक्सफोर्ड आंग्लभाषाकोशमें स्वीकृत हुआ है। 'होमादि द्वारा जिसका आह्वान किया जाता है', 'प्रार्थना-स्वीकारके लिए साधकों

द्वारा जो आहूत होता है' इस अर्थमें यह शब्द 'हु' और 'ह्वे' धातुसे निष्पन्न होता है।

इस प्रकार यह निश्चित है कि 'गॉड' शब्दका मूलभूत अर्थ है—'यज्ञसे उपास्यदेव', 'हवनादिसे पूजित परमेश्वर', 'स्वमनोरथपूर्त्तिके लिए भक्तोंके द्वारा सेवित सर्वशक्तिमान् परमेश्वर'। अंग्रेजी और जर्मन भाषामें प्रयुक्त 'गड्' शब्दका 'ग' रूप आदिम अक्षर मूलतः प्राचीन ट्यूटानिकभाषागत 'घ' वर्णसे निष्पन्न हुआ है। यह 'घ' वर्ण संस्कृतके 'ह' वर्णका विकार है। संस्कृतका हूतम् या हुतम्= प्राचीन ट्यूटानिकभाषाका 'घूतोम्' शब्द है, जो अंग्रेजी भाषीय गॉड् शब्द और जर्मन भाषीय गात् शब्दका प्रकृति है। इस प्रकारकी वर्ण-परिवर्तनकी पद्धति भाषातत्त्वविदोंको अनुमत है, जो उपर्युक्त समीकरणका हेतुरूप है।

वैदिक धर्मका शिक्षास्वारस्य

उपदेशके कई प्रकार भी धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टयका सामंजस्य करना ही सर्वश्रेष्ठ उपदेश है। धर्म-अर्थ-कामरूप त्रिवर्गमें धर्मका प्राधान्य धर्मशास्त्रविद् मनीषी मानते हैं। वैदिक धर्ममें माना जाता है कि अर्थ और काम धर्मानुकूल हों। धर्मविरुद्ध अर्थ और कामको सफलता नहीं मिलती। गीतामें तो धर्मानुकूल कामको साक्षाद् भगवद्विभूति विशेष ही माना गया है—'धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि लोकेस्मिन् भरतर्षभ।' चूँकि अर्थ और काम लोकोपकारी, जीवननिर्वाहके साधक और निखिल मानवोंके अभीष्ट हैं, इसलिए वे वर्जनीय पदार्थ नहीं हैं, बल्कि वे धर्मसे अविरुद्ध होकर अभ्यर्थित ही होते हैं—यह शास्त्रकारोंका हार्दिक अभिप्राय है। अतः धर्म-अर्थ-कामके परस्पर उपकारी होनेके कारण उनके संतुलित आचरणमें ही शास्त्रका तात्पर्य है, न कि विरुद्धाचरणमें

इसी दृष्टिसे व्यासका यह वचन है—

धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः यो ह्येकसक्तः स नरो जघन्यः ।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे ।।

इस श्लोकमें जो 'सम' शब्द है, उसका अर्थ है—अनासक्ति भावसे परस्पर संतुलितरूपसे प्रयोग करना। वह मनुष्य जघन्य है, जो किसी एक ही वर्गमें—धर्ममें भी—यदि आसक्त होता है। अर्थ और कामको छोड़कर केवल धर्मासक्ति भी मनुष्योंको स्वीकार नहीं करनो चाहिए। अर्थ और कामके साथ अविरुद्धभावसे धर्मके आचरणमें ही शास्त्रकारोंका आग्रह है न कि अर्थकामवर्जित धर्माचरणमें—यह शास्त्र-तात्पर्य विज्ञोंको भलीभाँति जानना चाहिए। आजकल अर्थ और काम धर्मके अत्यंत विरुद्ध हो गये हैं—ऐसा देखा जाता है। अतः वे त्याज्य हैं, पर यदि वे धर्माविरुद्ध हों तो नितांत ग्राह्य हैं—यह वैदिक शास्त्रोंका स्पष्ट तात्पर्य है।

आधुनिक साम्यवाद भारतीय धर्मके अनुकूल है। पाश्चात्य देशोंमें आजकल जो व्यवस्था प्रचलित है, वह है—अन्योंका उपमर्दन-पूर्वक अपने लिए इष्ट अर्थकी उपलब्धि। पर यह स्थिति साम्यवादके साथ उचित प्रतीत नहीं होती। इस विषयमें श्रीमद्भागवतका वचन नितांत ही महत्त्वशाली है—

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् ।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ।।

यही स्वत्वपरक मीमांसा है। जितने द्रव्यमें प्राणियोंकी उदरपूर्ति हो, उतने द्रव्यपर ही उसका अधिकार है, क्योंकि द्रव्य उदरपूरणार्थक ही होता है। उतने परिमाण द्रव्यसे जो अधिक स्वत्वकी आकांक्षा रखता है, वह चोर ही है। वह समाजमें दंडका भागी होता है। अनधिकृत द्रव्यको अपने अधीन रखना ही चौर्य है। स्वोदरपूर्तिसाधक

द्रव्यसे अधिक द्रव्यपर अधिकार रखनेवाले व्यक्तिमें भी यह चौर्य अवश्य ही रहता है। अतः उस व्यक्तिके प्रति चोरकी तरह व्यवहार करना दुर्निवार है। यह स्वत्वमीमांसा नैसर्गिक और उचित है। इसलिए आजकल इसका आदर करना चाहिए। यथार्थतः साम्यवाद भारतवर्षमें ही अपने वास्तविक रूपमें प्रकटित हो सकता है, न कि भेद-प्रभेदवादी अन्य पाश्चात्य देशोंमें। इसप्रकार अर्थ और कामके धर्मानुकूल होनेपर कहीं भी किसीसे भी संघर्ष या मतविरोध होनेकी संभावना नहीं रहती। यही कारण है कि अर्थ और कामका भी सद्व्यवहार होना चाहिए। कर्त्तव्यका पालन, न कि अधिकारके लिए संघर्ष, मनुष्योंका परस्पर भ्रातृभाव, न कि परस्पर वैमनस्य; युद्धों का उपशम, न कि परस्पर कलह—ये सब वैदिक धर्मसे ही अधिगत हो सकते हैं, अन्य किसी धर्माभासरूप संप्रदायसे नहीं। इसीलिए वैदिक धर्मका ही समादर होना चाहिए। इस धर्मके अनुष्ठानसे ही सब मनुष्योंको ऐहिक फलकी प्राप्ति एवं पारलौकिक कल्याणकी उपलब्धि अवश्य होगी। इस प्रकार यह निश्चित होता है कि वैदिक धर्म ही भजनीय है। ० ० ०
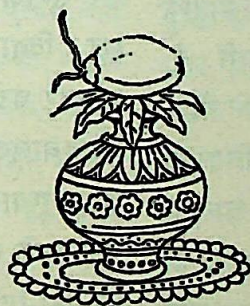
गो माताका महत्व

श्री म० म० प०
गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी,
वाचस्पति

लेखक

भारतीय आर्य-संस्कृतिमें गौ को माता माना जाता है। न केवल इसलिए कि वह माताके समान दूध पिलानेवाली है, अपितु भारतीय विद्वानोंने वैज्ञानिक परीक्षा द्वारा जान लिया था कि माताके गर्भाशयमें वालक-के पोषणके जो तत्व होते हैं, वे उसी तरह गौके दुग्ध और घृतमें भी हैं। महाभारत आदि पुराणेतिहासोंमें लिखा है कि सगर महाराजकी स्त्रीके गर्भसे एक तुम्बीका आकार निकला, वैज्ञानिकोंने देखा कि तुम्बीमें जिसप्रकार बीज ओत-प्रोत रहते हैं, उसीप्रकार इसमें वहुत-से बालक बीज-रूपसे ओत-प्रोत हैं, किन्तु किसी भी बालक-का पूरा पोषण होकर शरीरका आकार पूर्ण न हो पाया। झटपट उन वैज्ञानिकोंने शस्त्रक्रियासे उन बालकोंको पृथक्-पृथक् कर एक एकको गोघृतके एक-एक घटमें वैज्ञानिक युक्तिसे रख दिया, और उन घटोंको पूरी तरह बन्द कर सुरक्षित स्थानमें स्थापित कर दिया। नियत समयके अनन्तर घटोंको खोला गया तो वे सब बालक अंगोंकी पूर्णता प्राप्त कर मनुष्याकारमें आ चुके थे। धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंकी उत्पत्तिकी भी यही विधि लिखी है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि माताके

गर्भाशयके समान ही गोघृतमें भी शरीर बनानेवाले पोषक तत्त्व रहते हैं भारतीय विद्वानोंने वैज्ञानिक परीक्षा द्वारा यह भी जान लिया था कि संसारके जड़ चेतनात्मक सब पदार्थोंमें देव-प्राण और आसुरप्राण दोनों रहते हैं, इसलिए सब पदार्थ देवासुरमय हैं। किन्तु गौके शरीरमें केवल देवमय है, उसमें असुरोंका कोई सम्बन्ध नहीं। कुछ वर्षों पूर्व गौका एक ऐसा चित्र देखनेमें आता था, जिसमें पुराणोंके अनुसार गौके प्रत्येक अंगमें देवताओंके चित्र लिखे रहते थे। गो शरीरके देवमय होनेका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है कि गौ शरीरके मल, मूत्र आदि भी दुर्गन्धसे दूषित नहीं होते अन्यान्य सब प्राणी मनुष्य तकका शरीर देव और असुर दोनोंसे आक्रान्त है। जिन भागोंमें देवताओंका निवास है, उनमें सुन्दरता, कोमलता, सुगन्धि आदि गुण रहते हैं, और जो शरीरके भाग असुरोंसे आक्रान्त हैं—उनमें दुर्गन्धि आदि दुर्गुण रहते हैं—इसलिए मनुष्य पर्यन्त सब प्राणियोंके मलमूत्र आदि सब मल-दुर्गन्धसे दूषित होते हैं, किन्तु गौके मल, मूत्रादिमें भी एक प्रकारका अच्छा गन्ध ही रहता है। इसीलिए हमारे पूर्वज ऋषि मुनियोंने मनुष्यमलकी शुद्धिके लिए बहुत-से मृत्तिका जल आदिसे रगड़ने धोने आदिका विधान किया है, किन्तु गोबर और गोमूत्रसे अशुद्ध स्थानोंका शुद्ध होजाना माना है। गौके घुमा देनेसे भी अत्यन्त अशुद्ध मलिन स्थानोंकी शुद्धि धर्मशास्त्र मानता है। इसी प्रकार मनुष्यादि सब प्राणियोंके सूक्ष्म शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रिय आदिमें भी देवता और असुर दोनोंका सम्बन्ध होनेके कारण उनकी प्रकृतिमें सौम्यता-स्नेह-और क्रूरता दोनों देखे जाते हैं। किन्तु असुरोंका सम्बन्ध न होनेके कारण गौके स्वभावमें क्रूरता होती ही नहीं।

वह सदा सौम्य रहती है। डाक्टरोंने भी परीक्षा द्वारा मान लिया है कि गोबरमें रोगोंके किटाणुओंका नाश कर देनेकी शक्ति है, प्लेग आदि संक्रामक रोगोंके प्रसारके समय देखा है कि बहुत-से डाक्टर भी अपने स्थानमें गोबरका चौका लगाकर बैठते हैं-जिससे कि उनके यहाँ आनेवाले रोगियोंके शरीरोंसे निकलते कीटाणुओंका प्रभाव उनके स्थानों द्वारा उनके शरीरमें न आ पड़े। हमारे धर्मशास्त्रकार तो पाप-निवृत्तिके लिए प्रायश्चित में भी पंचगव्य, गोबर, गोमूत्र, गोदुग्ध, गोदधि और गोघृतको पीनेका विधान करते हैं। गोबर, गोमूत्रके प्रोक्षण बिना हमारे कोई धर्मकार्य नहीं होते। इससे सिद्ध है कि भीतरके सूक्ष्म शरीरके पाप आदि मल भी गौके मल, मूत्र आदिसे कट जाते हैं। यह सब गौ-शरीरके देवमय होनेके कारण ही संपन्न होता है।

गौका किन किन देवताओंसे किस प्रकारका सम्बन्ध है—यह बात भी वेदका एक मन्त्र प्रमाणित करता है—

माता रुद्राणाम् दुहिता वसूनाम्'
स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्रणु वोचं चिकितुषे जनाय मा
गामनागा मदितिं वधिष्ट।

इसका अर्थ है कि गौ रुद्रोंकी माता है, वसु देवताओं की पुत्री हैं, और अदित्योंकी स्वसा बहन हैं। इसलिये मैं 'वेद भगवान् विवेकशील मनुष्योंको संबोधित कर कहता हूँ कि सदा निरपराध और अखण्डित व्रत-वाली गौको कभी मत मारो। इसमें गौका सब देवताओंसे सम्बन्ध स्पष्ट किया गया है। इस मन्त्रका स्पष्ट अभिप्राय जाननेके लिए वेदकी प्रक्रियाका संक्षिप्त रूपमें ज्ञान आवश्यक होगा। संस्कृत भाषामें गो शब्दके बहुत अर्थ हैं। इन्द्रियोंका नाम भी गौ है। सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदिकी किरणों को भी गौ

कहा जाता है, उन किरणोंमें संसक्त होकर इतस्ततः विचरनेवाले उन पिण्डों वा तत्त्वोंके प्राण भी गो नामसे कहे जाते हैं। पृथिवी भी गौ नामसे प्रसिद्ध है। इत्यादि। साथ ही यह भी समझना चाहिए कि वैदिक विज्ञानकी दृष्टिमें देव, ऋषि, पितृ आदि वे सूक्ष्म तत्त्व हैं—जो इस स्थूल जगत्को बनाकर इसमें व्याप्त रहते हैं। इन सबको सामान्य रूपसे 'प्राण' शब्दसे भी कहा जाता है। हमारी पृथिवी, चन्द्रमा और सूर्य यह हमारी एक त्रिलोकी है, इन तीनों स्थूल मण्डलोंको बनानेवाले तीन प्रकारके ही देवता हैं—जो इन मण्डलोंको बनाकर इनमें व्याप्त रहते हैं—और किरणों द्वारा इनसे निकलकर परस्पर सम्बन्धसे सब प्रकारके जड़ चेतनात्मक प्रपंचको बनाते रहते हैं। वे ही इन पिण्डों वा लोकोंके देवता कहे जाते हैं। पृथिवीका देवता अग्नि है, वह संपूर्ण पृथिवीमें व्याप्त है, उसकी आठ अवस्था है जो आठ वसु नामसे कही जाती है। अन्तरिक्ष वा आकाश-जिसमें चन्द्रमा विचरता है, मेघ बिजली आदि जिसमें रहते हैं—उसका देवता वायु है। उसकी ग्यारह अवस्था ग्यारह रुद्र हैं, और सूर्यमण्डलका देवता आदित्य है, उसकी बारह अवस्था ही द्वादश आदित्य कहलाते हैं।

सूर्यमण्डल पृथिवी और चन्द्रमा, मेघ आदि सबका उत्पादक है, उसीके प्राणमय किरण-समूहके पेटमें पृथिवी, चन्द्रमा आदि सब घूम रहे हैं। सूर्यसे निकले हुए प्राणरूप तत्त्व ही पृथिवी आदिमें प्राणियोंके भी जनक हैं। गौ ज्योति और आयु नामके तीन प्रकारके प्राण सूर्यमण्डलसे निकलकर चारों ओर फैलते हुए पृथिवीपर भी आते हैं। उनमें गौ नामका प्राण सब प्रकारके प्राणियोंको उत्पन्न करता है, आयु नामका प्राण सब प्रकारके प्राणियोंकी भिन्न भिन्न

आयु बनाता है, और उनमें प्रकाश वा चेतनाको स्पष्ट करनेवाला होता है। एवं ज्योति नामका प्राण पृथिवी और अन्तरिक्षमें देवताओंकी सृष्टि करता है। प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाले गौ,प्राणके पृथिवीके प्राणोंके संपर्कसे पांच भेद हो जाते हैं—जिनके नाम वेदमें पुरुष, अश्व, गौ, अज और अवि बताये गये हैं। ये पांच प्रकारकी प्राण जाति ही सब प्राणियोंकी उत्पादक है। सूर्यसे आया हुआ गोप्राण और प्राणोंसे मिश्रित न होता हुआ गो नामसे ही कहा जाता है, और पार्थिव प्राणोंके मेलसे पुरुष, अश्व, अज और अवि ये चार प्रकार और बन जाते हैं। जिस प्राणीमें जिस प्रकारके प्राणकी प्रधानता रहती है, वह प्राणी उसी नामसे पुकारा जाता है। इस प्रकार बिना मेलका सूर्यसे आया हुआ गौ प्राण जिस प्राणीमें मुख्य रूपसे विराजमान रहता है—वही प्राणी गौ नामसे विख्यात हुआ है। सूर्यसे आये हुए प्राण शुद्ध देवता रूप हैं—क्योंकि सूर्यमण्डल देवमय पिण्ड है। हमलोग सन्ध्यामें सूर्यका उपस्थान करते हुए मन्त्र बोलते हैं कि—

'चित्रं देवानामुदगादनीकम्'

अर्थात् यह देवताओंकी सेना सूर्यमण्डलके रूपमें उदय हो गयी। यहाँ सूर्यमण्डलको देवताओंकी सेना बताया गया। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि सूर्यमण्डल विशुद्ध देवतामय है, वहाँ असुर स्पर्श भी नहीं पा सकते। पृथिवीमें देव और असुर दोनों हैं, उनमें देवता सूर्यसे आये हुए हैं—और असुर पृथिवीकी निजी संपत्ति हैं। असुरोंके कारण ही पृथिवीके प्राण काले-अन्धकार रूप हैं। जब तक सूर्य किरणसे पृथिवीके प्राण दबे रहते हैं—तबतक प्रकाश रहता है—जिसे हम दिन कहते हैं—और सूर्यके ओझल अस्त होते ही अर्थात् हमारी दृष्टिके भागसे बाहर चले जाते ही बिना

बुलाया ही अन्धेरा चला आता है। वह अन्धेरा और कुछ नहीं–पृथिवीके काले किरण हैं—जो अबतक सूर्य प्रकाशसे दवे हुए थे। अस्तु-हमारे कहनेका अभिप्राय यही है कि पृथिवीके प्राणोंके मिश्रणसे जो प्राणी बने हैं—उनमें देव और असुर दोनोंका निवास है, और जहाँ शुद्ध सूर्यका गो प्राण ही रहा, वह गौ नामका प्राणी केवल देवतामय है–उसमें असुरका स्पर्श भी नहीं। इसी गो प्राणका वर्णन हमारे पूर्वलिखित मन्त्रमें किया गया है।

पृथिवी सूर्यसे आये हुए देवमय प्राणोंका ग्रहण कर, अपने भीतरसे फिर उन्हें उल्टा लौटाती है–यही आवागमन यज्ञप्रक्रिया है–जो जगतको बनानेवाली है। पृथिवीसे निकल कर उलटे सूर्यकी ओर जानेवाले णोंका नाम वाक्, गौ, और द्यो हो जाता है। पाठक देखेंगे कि गौ नामका परिवतन अब भी नहीं होता वह अविकृत रूपमें ही बना रहता है। देवताओंका बनानेवाला ज्योति नामका प्राण अब द्यो रूप होकर–द्यो नाम प्राप्तकर इस गो प्राणसे सम्मिलित हो जाता है। लौटते हुये ये प्राण अन्तरिक्षमें रुद्र देवताओंको उत्पन्न करते हुये सूर्य मण्डल तक जाकर वहाँके आदित्य प्राणोंके सहचारी बन जाते हैं। कहा जा चुका है कि पृथिवीमें अग्निकी आठ अवस्था आठ वसु नामसे रहती है। अब जो गो प्राण पृथिवीसे निकल कर गया है, वह पृथिवीके प्राणरूप वसुओंसे उत्पन्न हुआ, इसलिए उस गो प्राणको वसुओंकी दुहिता 'पुत्री' मन्त्रमें कहा गया है। यद्यपि वह प्राण सूर्यसे ही आया हुआ था और अपने अविकृत रूपमें ही रहा, किन्तु अजात पृथिवीमें वह प्रविष्ट तो हुआ ही और अब जो उसे पृथिवीके प्राणने ही लौटाया–इसलिए वसुओंकी पुत्री कहना न्यायसंगत ही है। अन्तरिक्षमें इसने रुद्र देवताओंको उत्पन्न किया—इसलियं इसे रुद्रोंकी

माता कहा गया। पुराणोंमें एक कथा आती है कि वसिष्ठकी धेनु नन्दिनीपर जब अपने साथ ले जानेके लिए सेनासहित महाराज विश्वामित्रने आक्रमण किया था, उस समय वसिष्ठ ऋषि तो शान्तमय बने रहे, किन्तु गौने अपनी रक्षाके लिए बहुत-से रुद्रमूर्ति गणोंको उत्पन्न कर दिया—जिन्होंने उस सेनाको परास्त कर गौकी रक्षा की। इसकारण भी गौको रुद्रोंकी जननी कहा गया है। आगे जा कर सूर्य-मण्डलमें यह गौ प्राण आदित्योंकी सहचारी बन जाता है; इसलिए इसे आदित्योका का स्वसा 'वहन' कहा गया है।

इसप्रकार सब देवताओंका सम्बन्ध गो प्राणके साथ बताकर उस गो प्राणका सम्बन्ध ऋतुमय दुग्धको उत्पन्न करनेवाली गौ माताके साथ वेद मन्त्रने जोड़ा है—इससे सिद्ध है कि उसी देवमय अविकृत गोप्राणसे इस गौ प्राणीकी उत्पत्ति हुई है। इसी कारण इसे देवमय मूर्त्ति माना जाता है—जिसके प्रमाण भी पूर्वोक्त प्रकारसे हमारे अनुभवमें स्पष्ट आते हैं। और यही कारण कि गोदुग्ध परम सात्विक माना जाता है, देवता पितर आदिके कार्यमें गौदुग्धका ही ग्रहण है, भैंस आदिके दूधको तो आमिष गणमें माना गया है। देव पितृकार्य वा व्रतादिमें गौ के अतिरिक्त और कोई दुग्ध ग्राह्य नहीं माना गया। पुराणोंमें भैंसका दूध पीकर पले हुए भैंसेको यमराज-वाहन बताया गया है, और गौ का दुग्ध पीकर पलनेवाला वृषभ भगवान् शंकरका वाहन है। इसका भी रहस्य स्पष्ट है कि भैंस आदिका दुग्ध तमोगुणी है—उससे यमलोक ही मिलता है—और गोदुग्ध परम सात्विक होनेके कारण शिवलोक प्राप्त कराने वाला है इस प्रकार गौका महत्त्व सब शास्त्रोंमें ओत प्रोत है।

गावो ममाग्रतः सन्तु
गावो मे सन्तु पृष्ठत।
गावो मे सर्वतः सन्तु
गवां मध्ये वसाम्यहम्॥

० ० ०
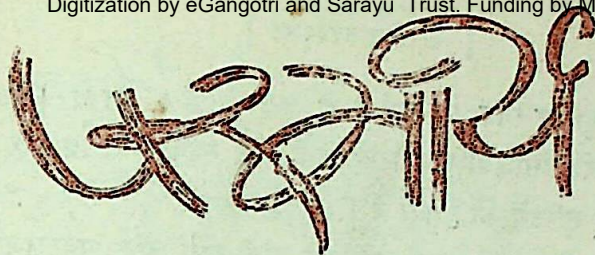
एक थे सन्त। अनन्तसे एक। न भार न भीर। रहते थे पर्वतकी तलहटीमें। एकान्त जङ्गल। थोड़े दिनोंमें उनका यशःसौरभ फैला। देश-विदेशसे दर्शनार्थी आने लगे। एक दिन गाँवका एक अनपढ़ आया। उसने प्रार्थना की 'मैं आपकी सेवामें आया हूँ। महात्माने हँसकर कहा—धान कूटा कर और आनेवालोंको चावल दिया कर। वह इस काममें तन्मय हो गया। न सत्संग, न ध्यान, न दीन, न दुनियाँ। वर्षों बीत गये। अब किसीका उसकी ओर ध्यान भी नहीं जाता वह अपने काममें संलग्न था।

महात्माजीके पास विद्वान्, साधक, सिद्ध आते-जाते रहते थे। उनके खप्पर और कौपीन भी सिद्ध हैं। खप्परमें समयसे भोजन आ जाय, कौपीन कभी पुराना न पड़े। उनकी वृद्धावस्था देखकर भक्तोंने प्रार्थना की कि महाराज आपका शरीर जीर्ण-शीर्ण हो रहा है, यह एक दिन छूटेगा तो सही। सम्पत्तिके उत्तराधिकारका कोई प्रश्न भी नहीं है। परन्तु यह आपका खप्पर और कोपीन कौन लेगा? इसकी घोषणा कर दी जाय।

महात्माजीने कहा—अच्छी बात है, हमारे सब भक्त एक-एक गाथा लिखें—जिसकी गाथा—सर्वश्रेष्ठ होगी—वही हमारे खप्पर और कोपीनका उत्तराधिकारी होगा। बड़े-बड़े विद्वान्—उपासक—सिद्ध और योगी शिष्योंने गाथा—लिखी। जो सर्व-श्रेष्ठ सिद्ध योगीने गाथा लिखी, वह कुछ ऐसी थी—

'हमारे गुरुदेव स्वयं, परमार्थ हैं, वे कल्पवृक्ष हैं। उनकी कृपा-कटाक्षसे सारी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। वे स्वयंप्रकाश ब्रह्म हैं। उनसे महान् सृष्टिमें कोई नहीं है।'

सर्व-सम्मतिसे यही गाथा सर्वश्रेष्ठ मानी गयी और महाराजसे निवेदन कर दिया गया कि यही गाथा सर्वश्रेष्ठ है।

एक दिन गाँवका कोई बालक यही गाथा गाता हुआ—उस धान कूटनेवाले गंवारके पास पहुँच गया। उसने पूछा—क्या गाता है ?

बालक—तुझे इतना भी पता नहीं-यह गाथा है; जिसकी श्रेष्ठता सर्वमान्य है। यही लिखनेवालेको महाराजका खप्पर कोपीन मिलने-वाला है। यह सुनकर उस सेवक गंवारने कहा— मुझे तो लिखने नहीं आता; तुम मेरी गाथा लिख दो। बालक हंसने लगा। बोला–'तू गंवार; गाथा क्या लिखायेगा ?' इतनेमें उधरसे एक सज्जन निकले उन्हें इस गंवारपर दया आयी और वे बोले—'लाओ मैं लिखे देता हूँ।' सज्जन वह गाथा लिखकर संतके पास ले गये और उसे उन्होंने उन्हें सुनाया।

सन्तने तुरन्त—लिखनेवाले गंवारको बुलाया और अपना सिद्ध खप्पर और कोपीन तुरन्त समर्पित कर दिया। वह गंवार गंवार नहीं था; वह तो संतकी कृपा और सेवासे सिद्ध हो चुका था। उसने जो गाथा लिखी उसका भाव कुछ इस प्रकारका था।

'परमार्थमें न मैं हूँ न मेरा गुरु। कल्पवृक्षका अस्तित्व तो वासना-मूलक है। परमार्थ न कोई धर्म है न कोई उससे धारा निकलती है। अहा ! परमार्थ तो परमार्थ ही है।'

सन्तने अपने शिष्यसे कहा—'बेटा! तुम्हारा अनुभव यथार्थ है।'

शिष्य—गुरुदेव! अनुभवमें यथार्थ और अयथार्थका भेद कहाँ है ?

संत—'बेटा ! सचमुच तेरा अनुभव परम पवित्र है और सचमुच
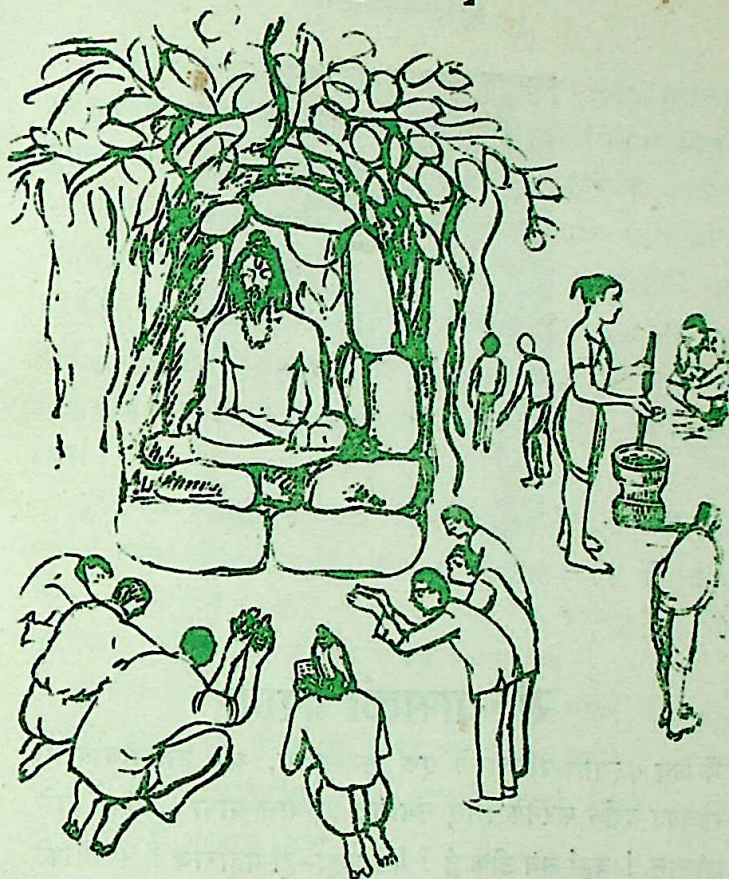
तुझे उसकी प्राप्ति हुई है ।

शिष्य—गुरुदेव ! अननुभव और अनुभव, पवित्रता-अपवित्रता, प्राप्ति और अप्राप्ति कहाँ है ?

संत—'बेटा ! अब जा तू विचार ।'

शिष्य—गुरुदेव ! सत्यमें गति कहाँ है ? इसके बाद बहुत वर्षों-तक गुरु और शिष्य दोनों पृथक्-पृथक् कहीं-कहीं विचरण करते हुए देखे गये ।

०००

संन्यासकी प्रेरणा

मैं जब कल्याण-परिवारमें एक सदस्य था, श्री उड़ियाबाबाजी महाराजका दर्शन करनेके लिए गंगातट कर्णवास आया। बाबा बोले क्यों शान्तनु ! वहाँ सब ठीक है ? मैंने कहा—हाँ महाराज ! सेठजीकी निष्ठा बड़ी पक्की है। भाईजी बड़े भक्त हैं। हमसे बहुत प्रेम भी करते हैं। बाबाने कहा—अच्छा; शान्तनु ! मैं तुम्हें एक कथा सुनाता हूँ।

एक थे महात्मा—सर्वथा-विरक्त-साधु, विचारशील-त्यागी। वे गाँव-गाँवमें ठाँव-ठाँवमें कहते फिरते-कहीं 'कब्र है—कब्र' ? गृहस्थ लोग उनका अभिप्राय नहीं समझते। एक थे गृहस्थ ज्ञानी, असंग और निष्ठावान्। वे समझ गये और अपने घरकी ओर दिखाकर कहा—महाराज ? कब्र तो यह है; कहीं मुर्दा भी है ?

साधुने अपने शरीरको मुर्दा बताया और उनके घरमें घुस गया। उनके लिए एकान्त कमरेकी व्यवस्था हो गयी। न किसीसे मिलते-न जुलते। एकरस बारह वर्ष बीत गये। एक दिन गृहस्थके घरमें चोर घुसे, लाखोंकी सम्पत्ति समेटकर जाने लगे। साधुके मनमें आया—मैंने बारह वर्ष तक इसकी रोटी खायी है। मेरी आँखोंके सामने इसकी चोरी हो जायगी तो क्या उचित है? मेरा कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है? वे चोरोंके पीछे लग गये और जगह-जगह कौपीन फाड़कर कपड़े बांध दिये। जिस कूएँमें चोरांने सम्पत्ति डाली—उसे पहचान लिया।

दूसरे दिन साधुके बतानेपर चोर पकड़े गये और सम्पत्ति मिल गयी। स्वस्थ और शान्त होनेपर एक दिन गृहस्थने साधुसे प्रश्न किया। महाराज! मुर्दा सच्चा या कब्र? वे बोले—'कब्र सच्ची मुर्दा झूठा, और वहाँसे विरक्त होकर निकल पड़े।

बाबाके इस उपदेशको मैंने संन्यासकी प्रेरणा समझी। सचमुच भाईजी और उनके परिवारसे घनिष्ठता बढ़ती जा रही थी। मैंने संन्यास अपने आनुवंशिक घर गृहस्थीसे नहीं लिया भाईजीके परिवारसे ही संन्यास लिया।

—श्री महाराजश्री

भगवन्नाम

संकीर्तन-महामण्डलेश्वर श्री १०८ स्वामी
कृष्णानन्दजी महाराज बम्बईवालेके उपदेश

"गुरुकृपा, ईश्वरकृपा, शास्त्रकृपा और आत्मकृपासे जीव कृत-कृत्य हो जाता है। इसी प्रकार भगवन्नामका जप करनेसे मनुष्यका कल्याण हो जाता है। अनेक जन्मोंका पुण्य उदय होनेपर ही भगवान्‌का नाम हृदयमें आता है। उच्चस्वरसे भगवन्नामका संकीर्तन करनेसे भगवान्‌का साक्षात्कार हो सकता है। कलिपावनावतार श्रीचैतन्य महाप्रभुका सिद्धान्त है 'नामे रुचि, जीवे दया वैष्णवे सेवा।' भगवन्नामकी महिमा अनिर्वचनीय अनन्त है। कलिकालमें समस्त दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और समस्त सुखोंकी प्राप्ति एकमात्र भगवान्‌के नाममें ही है। संसार-सागरसे पार जानेके लिये—भगवत्प्राप्तिके लिये इससे सरल और सहज साधन दूसरा नहीं है।"

प्राण देकर

[श्री 'चक्र]

यह मेरा 'चीतू' नहीं है। यह रक्तसे लथपथ, स्थान-स्थानसे फटा मांसका लोथड़ा जिसमें जहाँ तहाँ लम्बे बाल चिपके हैं, यह कोई कुत्ता है, इस समय यह पहिचानना भी कठिन है और मुझे लगता है, मेरे 'चीतू' की लाश लोथड़ा बनी पड़ी है मेरे सामने।

यह धरित्री मुझे अपने अंकमें लेकर भुवनभास्करकी अब तक उनचास परिक्रमा पूरी कर चुकी है। सिरमें एक चोथाईसे अधिक केश श्वेत हो गये हैं और मुखसे दो दाँतोंने 'नमस्ते' कर ली है और तब मैं केवल दस वर्षका था, जब चीतू मुझे मिला था।

वर्धा जिलेमें एक छोटा नगर है आर्वी। पिताजी उन दिनों आर्वी-में थे। एक बन्द प्रेस मिलके क्वाटरमें रहनेको स्थान मिल गया था। मिलके घेरेमें रहनेवाली देशी कुतिया जब सामने बंगलेके गोरे साहबके बड़े विलायती कुत्तेसे मिल गयी चीतू उसकी सन्तान बना। पिताजीने कुतियाको फिर बाँध रखा था।

तनिक मटमैला लाल रंग और उसपर शेरके समान काली धारियाँ– चीतूने रंग पाया था माँका, मुख उसका अपने पिताके समान था; किन्तु काली धारियाँ पता नहीं कहाँसे आयी थीं। अपनी माँकी अकेली सन्तान– बचपनमें भरपेट दूध मिला और फिर पिताजीने उसके लिये मांस मँगाना प्रारम्भ किया। गोरे साहबके बड़े विलायती कुत्तेसे, जिसकी चीतू सन्तान था, वह कदमें काफी ऊँचा बन गया वर्ष भरका होनेसे पहिले ही।

× × ×

'आप क्या सोच रहे हैं ?' सहसा मेरे मार्ग-दर्शकने समीप आकर मेरे कन्धेपर हाथ रख दिया—'कुत्ता तो मर गया ! उसे अब ये लोग ऐसे ही यहीं छोड़ देंगे और कल यहाँसे तम्बू उठा लेंगे। आप अब तम्बूमें चलें ! सर्दी बढ़ती जारही है।'

सचमुच सर्दी बढ़ती जा रही है। हवा बहुत तेज है। वैसे भी तिब्बतके इस क्षेत्रमें तेज हवा ही चलती है। दो स्वीटर और कोट पहिने खड़ा हूँ; किन्तु पतलूनकी जेबमें गरम दस्तानेके भीतर हाथकी अंगुलियाँ जैसे बरफ हो रही हैं। इतनेपर भी इस कुत्तेके लोथड़ेपरसे नेत्र हटते नहीं हैं।

'कुत्तोको ये लोग कहीं गाड़ नहीं देंगे ?' मैंने अपने मार्ग-दर्शकसे पूछा।

'मरे कुत्तोको यहाँ कोई नहीं छूता !' कोई खेद नहीं था, मार्ग दर्शक दिलीपसिंहके स्वरमें।

× × ×

'मरा कुत्ता—मेरा चीतू भी तो मर ही गया था।' मेरा

मन फिर अपनी दसवर्षकी आयुमें पहुँच गया—'मैं शामको पढ़कर लौटता था तो बँधा चीतू अपनी उछलकूदसे मेरा स्वागत करता था। वह मेरी प्रतीक्षा करता मिलता था। मैं जलपान करता इतनी देरमें तो वह हल्ला मचा देता। उसे खोलकर मैं प्रायः पासकी छोटी पहाड़ीकी ओर चल देता। चीतू कदाचित् मेरे पीछे चलता। वह प्रायः आगे दौड़ता और थोड़ी दूरपर रुककर मेरी ओर देख लिया करता। मैं पीछे आ रहा हूँ, इतना देखकर वह फिर दौड़ जाता।'

'आप कहें तो रामसिंहकी सहायतासे मैं इसे गाड़ दूँ।' दिलीपसिंहने समझा कि मैं कुत्तेकी लाश इस प्रकार छोड़ देनेसे खिन्न हो रहा हूँ।

'हाँ, इसे गाड़ देना चाहिए।' मुझे यह बात अच्छी लगी।

× × ×

'मिट्टी खोदनेको तो यहाँ कुछ है नहीं।' दिलीपसिंहने अब परिस्थितिपर ध्यान दिया—'यहाँ भूमिमें भी पत्थर हैं, जो सरलतासे नहीं टूटेंगे। हम इसे यहीं पत्थरोंसे ढक दे सकते हैं।'

'अच्छा ऐसा ही करो!' मेरा आदेश पाकर दिलीपसिंह हमारे रसोइये रामसिंहको बुलाने चला गया।

'चीतू तब पहाड़ी झाड़ियोंमें अदृश्य हो जाता था, जब मैं पहाड़ीपर कहीं शिलापर बैठ जाता और जब वह लौटता था, उसके मुखमें कोई न कोई छोटा मृत जानवर दबा होता था। यह उसका शिकार······।

दिलीपसिंह पासके तिब्बती तम्बूसे भी दो सहायक ले आनेमें सफल हो गया था। उस तम्बूका प्रधान, स्त्रियाँ और लड़के-लड़कियाँ सब बाहर निकल आये यह तमाशा देखने। इन तिब्बतियोंके जीवनमें मृत्यु एक साधारण घटना है और फिर एक कुत्तेकी मृत्यु—उस

कुत्तेकी लाश पत्थरोंसे ढकी जाय गी, यह उन्हें बड़ा अद्‌भुत लग रहा था।

× × ×

'पिताजीने मेरे चीतूकी लाश सम्मानपूर्वक चितापर रखकर जलायी थी।' कुत्तेकी लाशके चारो ओर पत्थर डाले जारहे थे। सामने और मेरे मानस-नेत्रोंके सामने चीतू था—उस दिनका चीतू जब चीतेने अपने पञ्जोंसे उसे चीथ डाला था। रक्तसे लथपथ मेरा चीतू !

उस दिन मैं नित्यकी भाँति शामको चीतूको लेकर पहाड़ीपर गया था। मैं शिलापर बैठ गया और चीतू झाड़ियोंमें लुप्त हो गया। आज मार्गमें किसीने टोका था—'पहाड़ीमें एक चीता लगने लगा (नरभक्षी होगया) है।' उस समय मुझे यह चेतावनी व्यर्थ लगी थी।

मुझे पासकी झाड़ीमें कुछ हलचल दीखी। सूर्यास्त हो चुका था, किन्तु अभी अँधेरा नहीं हुआ था। एक मिनटमें मुझसे दस-बारह फीट दूर एक मोटा जवान चीता निकल आया और उसने अपने जलते नेत्रोंसे मुझे देखा। ग्यारह बरसके लड़केकी भला क्या चिन्ता कर सकता था यह पराक्रमी वन-पशु !

× × ×

मुझसे न चिल्लाया गया, न भागा गया। कुछ ठीक समझ भी नहीं सका कि हुआ क्या ? पता नहीं मेरे चीतूको कैसे यह सब पता लगा। वह किधरसे कब आया। मैं इतना जानता हूँ कि मेरे पीछेकी ओरसे एक भारी आकृति उछली और देखता हूँ कि चीतेके गलेमें पूरा मुख जमायें मेरा चीतू लटक गया है।

मैं अब चीखकर भागा। पिताजी कई मनुष्योंको साथ लेकर पहाड़ीपर आये। उनके रोकनेपर भी मैं साथ आया था। चीता भूमिपर मरा पड़ा था। चीतूका मुख अब भी चीतेके गलेपर पूरा जमा था; किन्तु मेरा चीतू कहाँ था। चीतेने पंजे मार-मारकर चीतू-की देह चीथ डाली थी।

'ऊफ !' मेरे नेत्रोंसे बूँदें टपक पड़ीं सामने कुत्तेके शरीरके चारो ओर पत्थरकी ढेरी ऊँची होती जा रही है। थोड़ी देरमें कुत्तो-का शरीर पत्थरोंमें छिप जायगा।

हम लोग मानसरोवर-कैलाशकी यात्रा करके, तीर्थपुरी

खिगलुंग होते कल इस दरचिनके मैदानमें पहुँचे थे। दूरसे ही तिब्बती चरवाहोंके तीन-चार तम्बू दीख पड़े। दिलीपसिंहने इन तम्बुओंके समीप ही तम्बू लगानेका निश्चय किया। किसी तिब्बतीके तम्बूके पास तम्बू लगानेसे दूध-दही, मक्खन सुविधासे मिल जाता है। कभी-कभी आटा भी खरीदा जा सकता है और सुरक्षा रहती है।

जब हम आये थे—चार पाँच मोटे बड़े-बड़े बालोंवाले भयंकर तिब्बती कुत्तोंने तम्बूसे कुछ आगे आकर भूँकना प्रारम्भ कर दिया था। हम इसके अभ्यस्त हो गये थे। तम्बूके लोग बाहर आगये। उन्होंने कुत्तोंको रोका। कुत्ते भूँकते रहे; किन्तु उन्होंने आक्रामक रुख त्याग दिया था। तम्बूका प्रधान दिलीपसिंहका परिचित निकला। हमारे तम्बू खड़े करनेमें उसने सहायता की और तम्बू खड़े होनेसे पहिले ही उसकी पत्नी मक्खन और नमक पड़ी तिब्बती चाय हमारे लिये ले आयी।

× × ×

रात्रिका विश्राम हमारी थकावट दूर कर चुका था; किन्तु जो याक हमें लाये थे, वे यहीं तकके लिए थे। वे सवेरे ही लौट गये। हमारे सामान ढोने तथा सवारीके लिए याक हमें यहाँ मिल जायँगे, यह तय हो गया, किन्तु वे मिलेंगे दो दिन बाद। उन चरनेवाले पशुओं को लेने तम्बूके प्रधानने अपना आदमी भेज दिया। अब हमें दो दिन प्रतीक्षा करनी है।

दिनके तीसरे पहर कुत्ते बड़े जोरसे भूकने लगे। तनिक देरमें पासके तम्बूसे तिब्बतियोंने भी चिल्लाना प्रारम्भ किया। दिलीप सिंह तम्बूसे शीघ्रत पूर्वक निकल गया। हम सब कुछ समझ नहीं सके; किन्तु तम्बूसे बाहर अवश्य आगये।

'बाबू, जंगली याक।' दिलीपसिंह बुरीतरह घबड़ाया लौटा

था— 'अब क्या होगा ?'

'बात क्या है ?' मैंने पूछा।

'वह दूर जंगली याक आता दीख रहा है !' दिलीपसिंहके संकेत करनेपर दूर एक छोटी पहाड़ीसे उतरती काली आकृति दीख पड़ी– 'यह शेरसे भी भयंकर होता है। जंगली भैंसे जैसा खूंखार और

चौदह चौदह गोली सहकर भी दौड़नेवाला।'

तिब्बतियोंने अपने पशु खोल दिये। वे इधर उधर चिल्लाते हुए भागने लगे। कुत्ते बेहद डरे थे और तिब्बती स्त्री-बच्चे भयसे काँप रहे थे।

× × ×
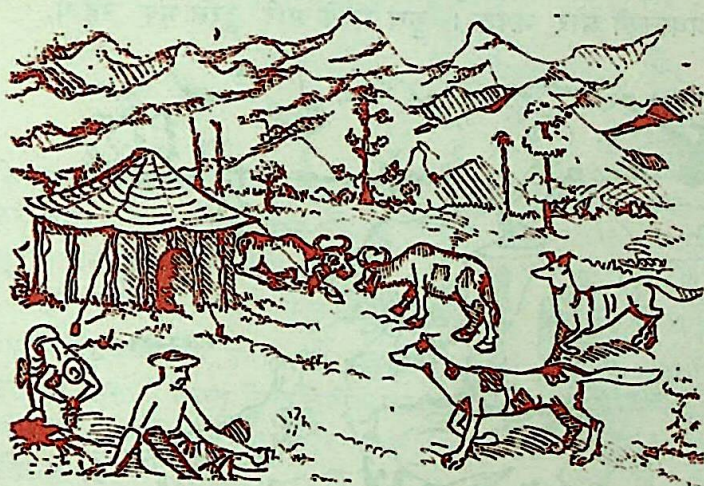
'इसका उपाय है इसे मादा याक दे देना' किन्तु यहाँ कोई मादा याक नहीं है।' दिलीपसिंहने अपनी खुखड़ी म्यानसे निकाल ली थी; किन्तु इससे उसे कोई साहस नहीं मिल रहा था। अब उस जंगली याककी हुंकार सुनायी पड़ने लगी थी। वह दौड़ता आरहा था।

'कुछ ठीक नहीं, वह किधर दौड़ पड़े।' दिलीपसिंहने बताया कि

किसी ओर भागकर जाना व्यर्थ है।

'स्त्री-बच्चोंको पिछले तम्बूके पीछे खड़ा करो! विवश होकर मुझे परिस्थिति हाथमें लेनी पड़ी। 'तुम मेरे साथ रहो, जिससे मेरी बात इन लोगोंको बताते रह सको! इनको अपने हथियार लेकर अलग अलग खड़े होनेको कहो'

हमने एक घेरा-सा बना दिया। याक किसी एकपर आक्रमण करेगा—सम्भवतः मुझपर। क्योंकि मैं उसे आगे मिलूँगा। शेष लोग उसे घेर लेंगे और सम्भव होगा तो मारेंगे। नहीं तो भाग सकेंगे।

× × ×

याक पास आगया; किन्तु मेरी ओर आनेके बदले वह घूमकर तम्बूके प्रधानकी ओर झपटा। कुत्ते भयके मारे दूरसे भूंक रहे थे,

किन्तु याकके पास आनेका साहस उनमें नहीं था।

निकट था कि याक प्रधानको अपनी सींगसे उछाल देता, तब तक तो तम्बूका सबसे बड़ा कुत्ता कूदा। कुत्तेने याककी पिछली दाहिनी टाँग खुरसे तनिक ऊपर धर दबायी। याक लौट पड़ा और उसने अपनी टांग फटकार दी। कुत्तेकी पकड़ अवश्य पक्की थी,

[प्राण देकर]
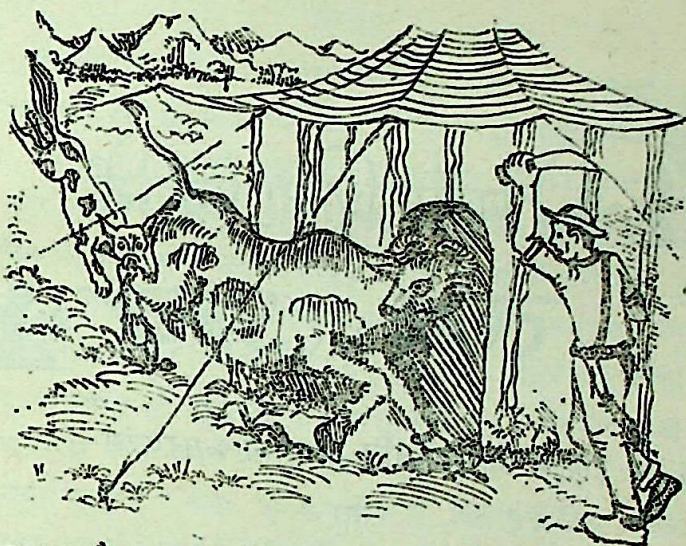
किन्तु उस दैत्याकार काले विशाल पशुने अपना अगला पैर कुत्तेपर धर दिया। एक चीख–कुत्ता समाप्त होगया। क्रोधान्ध याक अपने खुरोंसे उसे खूँदने लग गया।

हम लोगोंको अवसर मिल गया। प्रधानकी बन्दूकने दो फायर किये और याक गिर गया। यों वह मरा नहीं था, समय मिलता तो उठ भी जाता ; किन्तु तिब्बतियोंके सबल करोंके छूरे मूठतक उसकी गर्दन और पेटमें कई स्थानोंपर पलक झपकते उतर चुके थे। वह ठंढा होगया।

याकका चमड़ा इन तम्बूवालोंने उतार लिया। उसका मांस भी तम्बूके भीतर चला गया। बच रहा उसका कंकाल; किन्तु वह कुत्ता–याकके खुरोंसे कुचलता लोथड़ा बना वह कुत्ता। उसकी ओर ध्यान देना इन लोगोंके लिए आवश्यक नहीं था।

अब पत्थरोंने कुत्तेका लोथड़ा ढक दिया है। यहाँ कुछ सड़ता नहीं। कुत्ता इन पत्थरोंके नीचे चुपचाप सोता रहेगा—अनन्तकाल न सही, दीर्घकाल तक; क्योंकि शीतकाल उसे अपने उज्वल हिमसे अवश्य ढक देगा। ० ० ०

[राष्ट्रभाषा-पतञ्जलि निगमानन्द परमहंस]

तब

जब कि विश्वके किसी भी कोनेमें (भारतको छोड़कर) क. ख. का जन्म ही नहीं हुआ था। मनुष्य कहे जानेवाले प्राणी ट थ आदिके संदिग्ध संकेतोंसे जंगली जन्तुओंकी भाँति अपनी शारीरिक क्रियाएँ निष्पन्न किया करते थे। तब भारतमें वेदों जैसे सर्वोत्तम अपौरुषेय ग्रन्थोंका प्रादुर्भाव हो चुका था। 'वेद' शब्दका अर्थ ज्ञान है। ज्ञान अपौरुषेय एवं अनादि होता है। अपौरुषेय इसलिए है कि ज्ञान पु—रुजतन्त्र = पुरुषके अधीन—नहीं होता; किन्तु वस्तुके अधीन होता है—"वस्तुतन्त्रं भवेद् ज्ञानम्"। ज्ञान अनादि इसलिए है कि इसकी उत्पत्ति सिद्ध करना भी चाहे तो वह ज्ञानसे ही सिद्ध करेगा। अतः ज्ञान अनादि है। जो 'घटका ज्ञान उत्पन्न हो गया' 'पटका ज्ञान नष्ट हो गया' आदि प्रतीतियां होती हैं; उनका भी मतलब यही है कि 'घट हमारे ज्ञानका विषय नहीं रहा' आदि। कैसा भी मानें अब यह बात सर्वसम्मतिसे सिद्ध हो चुकी है कि 'विश्वके वाङ्मयमें वेदोंसे पहले कोई ग्रन्थ नहीं था'।

[भारतीय-शिक्षा-पद्धतिमें तब और अब]

शिक्षा

"व्यक्ति या जातिमें निसर्गतः विद्यमान मौलिक सत्ताका पूर्णरूपसे विकास कर देना ही शिक्षाका लक्षण है" और यही शिक्षाका लक्ष्य भी है। केवल मज्जा-मांससे लिपटे हुए हड्डियोंके ढाँचेका नाम व्यक्ति या मनुष्य नहीं। किन्तु स्थूल, सूक्ष्म, कारणरूप तीनो शरीरोंसे उपहित चेतनका नाम 'मनुष्य' है। शिक्षासे इन तीनो शरीरोंका पूर्ण विकास अपेक्षित है। पांचभौतिक स्थूल शरीरके विकासके लिए वेदोंने 'सदाचार' का विधान किया है। गुरुसेवा, गोसेवा, परोपकार आदि सदाचारके ही अन्तर्भूत हैं। मन, बुद्धि एवं इन्द्रियोंका नाम 'सूक्ष्म शरीर' है। मनके विना इन्द्रियां अन्धी और पंगु हैं। मन ही इन सबमें मुख्य है। अतः 'सूक्ष्म-शरीर' के विकासके लिए 'अपरा' विद्याका प्रादुर्भाव हुआ है। जिसमें वर्तमानके सभी विषयोंका अन्तर्भाव हो जाता है। 'कारण शरीर' के विकासके या इसके विनाशके लिए 'परा' विद्याकी अवतारणा हुई है। क्योंकि 'अज्ञान' का नाम ही 'कारण शरीर' है। ज्ञानके बिना अज्ञानका नाश नहीं होता। अँधेरेमें-का मिथ्या साँप विलापसे या लाठीसे लीन नहीं होता; किन्तु लाइटसे लीन होता है। सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत मन और बुद्धि दोनो आ जाते हैं। ये दोनो बहुत ही अच्छे हैं और बहुत ही बुरे। जब इनका बहाव बुराईकी ओर हो जाता है तो बहुत बुरे और जब इनका बहाव अच्छाईकी ओर हो जाता है तो बहुत अच्छे। मन और बुद्धि 'अन्तः-करण' का ही नाम है। जब अन्तःकरण संकल्प-विकल्प करता है तब इसको 'मन' कह देते हैं। जब यह विचार या निर्णय करता है तब इसीको 'बुद्धि' कह दिया जाता है। जब यह चिन्तन करने लग जाता है तब इसीका नाम 'चित्त' पड़ जाता है तथा जब यही अभिमान कर बैठता है तब 'अहंकार' कहलाता है। गीताने 'चित्त' और 'अहंकार'

को मन-बुद्धिके अन्तर्गत माना है। इसीलिए गीतामें 'चित्त' और 'अहंकार' का नाम नहीं आता। सूक्ष्मशरीरके विकासके लिए या मनकी एकाग्रताके लिए या अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए हमारे पूर्वजोंने 'योगदर्शन' आदि शास्त्रोंका निर्माण किया।

विद्यार्थी

वे पुरातन 'आर्ष विद्यापीठ' नगरोंसे दूर हुआ करते थे। उनपर किसी प्रकारका राजकीय अंकुश नहीं होता था। अर्थात्—वे परम स्वतन्त्र होते थे। कारण कि नौकामें बैठा हुआ मनुष्य उन्मार्गमें बहती हुई नौकाको नहीं रोक सकता; किन्तु जो मनुष्य नौकासे बाहर (तटपर) स्थित है वही नौकाको रोक सकता है—डूबनेसे बचा सकता है। यही काम उस समयके गुरुजन किया करते थे।

उन्होंने गुणकर्मानुसार मनुष्य जातिके चार विभाग मान लिए—प्रथम वर्ण, द्वितीय वर्ण, तृतीय वर्ण तथा चतुर्थ वर्ण। शरीरके निरापद संचालनके लिए जैसे शरीरमें सिर, भुजा, पेट एवं पैर हैं; वैसे ही समाज या राष्ट्रके सुविधापूर्वक संचालनके लिए प्रथम वर्ण सिर, द्वितीय वर्ण भुजा, तृतीय वर्ण पेट तथा चतुर्थ वर्ण पैरके समान उपयोगी अंग मान लिए गए। इनमें किसी प्रकारका ऊंच-नीचभाव नहीं रखा गया। ये सभी राष्ट्रके समान धारक हैं। प्रथम वर्णके आठ वर्षके बच्चेको विद्यापीठमें प्रविष्ट करके 'मोक्षप्रधान' शिक्षा दी जाती थी। द्वितीय वर्षके ग्यारह वर्षके बच्चेको प्रविष्ट करके 'धर्मप्रधान' शिक्षा दी जाती थी। तृतीय वर्णके बारह वर्षके बच्चेको भरती करके 'अर्थप्रधान' शिक्षा दी जाती थी। तथा चतुर्थ वर्णके बच्चेको काम प्रधान=कलाधान शिक्षा दी जाती थी। वह शिक्षा अन्तेवासी पौराणिक विधिसे या वंशपरम्परा द्वारा प्राप्त करता था।

आचार्य (गुरु)

भारतीय गौरवपरम्परामें स्त्री जातिके लिए 'माता' शब्दसे बढ़कर दूसरा कोई शब्द नहीं तथा पुरुषजातिके लिए 'आचार्य' (गुरु) शब्दसे बढ़कर आदर-सूचक कोई दूसरा शब्द नहीं। माता-पिता स्थूल शरीरको जन्म देते हैं तथा आचार्य सूक्ष्म शरीरको विकसित करता है। बच्चा पहले तथा बादमें मां-बापके सान्निध्यमें रहता है—इसीलिए 'मातृदेवो भव' 'पितृदेवो भव' 'आचार्यदेवो भव' कहा है—माता-पिताका प्रथम निर्देश किया है। अन्यथा—'नास्ति तत्त्वं गुरोः परम्' ही है। गुरुका स्थान गोविन्दसे भी बहुत ऊँचा है। स्थूल शरीरके पोषक गोविन्द हैं और सूक्ष्म शरीरके पोषक गुरुदेव। आचार्यका जीवन परम आदर्शमय होता है। वह शिष्यको वचनसे कम तथा कर्मसे अधिक सिखाता है। पहले 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव करता है, बादमें 'तत्त्वमसि' समझाता है। पहले स्वयं आचरण करता है, बादमें शिष्यसे आचरण कराता है या शिष्य स्वयं ही वैसा बन जाता है।

> "आचिनोति च शास्त्राणि आचारे स्थापयत्यपि ।
> स्वयमाचरते यस्तु तमाचार्यं प्रचक्षते ॥"

प्रार्थना

आचार्य अपनेको—स्वयंको शिष्योंसे पृथक् नहीं समझते थे। यह बात उनकी इस सामूहिक प्रार्थनासे स्पष्ट विदित हो जाती है—

> " तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै"

नौ=हम दोनोंका (गुरु शिष्यका) अधीतम्=पढ़ा हुआ तेजस्वी हो तथा हममेंसे कोई एक-दूसरेसे द्वेष न करे। वेदोंने अंधे भाग्यवाद तथा कोरे पौरुषवादको कोई महत्त्व नहीं दिया। कारण कि भाग्यवादमें दो तत्त्व हैं—एक 'विश्वास' और दूसरा 'आलस्य' तथा पौरुषवादमें भी दो तथ्य हैं—एक 'यत्न' एवं दूसरा 'अभिमान'।

इन दोनोंके पहले तत्त्वोंको (विश्वास और यत्नको) मिलाकर प्रार्थना सिद्ध होती है। प्रार्थनामें भाग्यवादका 'विश्वास' तो है; पर 'आलस्य' नहीं तथा पौरुषवादका 'यत्न' तो है; पर 'अभिमान' नहीं। इसलिए— वेदोंमें "धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्" आदि अनेकों सामूहिक प्रार्थनाएँ आती हैं। वेदोंमें कहीं भी अकर्मण्यता तथा हीनताका उपदेश नहीं आता।

समावर्तन

योग्य स्नातक हो जानेके वाद—एक ऋणसे उऋण होकर जब शिष्य दूसरे ऋणसे उऋण होनेके लिए समावर्तन करता है—घरको आता है, तव अर्चनीय चरण आचार्यकी स्नेहमयी वाचा फूटती है—

"सत्यं वद धर्मं चर, स्वाध्यायात् मा प्रमद, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, यानि अस्माकं सुचरितानि तानि त्वया उपास्यानि नो इतराणि, एष आदेशः, एष उपदेशः एषा वेदोपनिषद्, एतदनुशानम्"

"सदा सच बोलो, कर्तव्यका पालन करो, स्वाध्याय करना मत छोड़ो, माता, पिता, आचर्य एवं अतिथियोंकी सेवा करो, जो तुम्हें हममें अच्छी बातें दिखाई देती हीं उन्हें अपनाओ-दूसरी बातोंको मत अपनाओ, यही वेदकी आज्ञा है, यही वेदका उपदेश है, यही वेदका रहस्य है तथा यही मेरी शिक्षा है।"

इसप्रकार सदाचार सम्पन्न परम-सन्तोषी आचार्योंके सान्निध्यमें रहकर तथा सुशिक्षित एवं सुसंस्कृत होकर राष्ट्रके स्नातक अपने समस्त राष्ट्रको सदाचार-सम्पन्न समृद्ध तथा परम सुखी बनाते थे।

"इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः"

अब

जब कि हमारा राष्ट्र पूर्ण स्वतन्त्र हो चुका है; तो भी अबतक वह

'मेकाले' साहबकी चलाई शिक्षापद्धति ही धड़ल्लेसे चल रही है। इस पद्धतिके बारेमें मेकाले साहबने जो भविष्यवाणी की थी वह बहुत अंशोंमें सही निकली कि—

"अंग्रेजी शिक्षा द्वारा एक ऐसा मनुष्य दल तैयार होगा जो रक्त तथा रंगमें भारतीय रहेगा; किन्तु आचार, व्यवहार, रुचि, चरित्र, चिन्ता एवं विचारमें अभारतीय होगा।"

चाहिए तो यह था कि अंग्रेजी राज्यके यहाँसे चले जानेके पहले ही अंग्रेजी भाषा यहाँसे चली जाती। यह देशका दुर्भाग्य है तथा हमारी मानसिक पराधीनता है कि अंग्रेजी हमपर अब भी शासन कर रही है, इतना ही नहीं 'शिक्षा-आयोग' ने तो यहाँ तक अपने प्रतिवेदनमें कह डाला कि संस्कृतका प्रचार रोक देना चाहिए। डा० सम्पूर्णानन्द-जीने इसके सम्बन्धमें कहा था—"ऐसे प्रतिवेदनको फाड़कर फेंक देना चाहिए; जिसमें संस्कृतके प्रचारके लिए कोई स्थान नहीं। उन्होंने वेदोंका स्वाध्याय करनेपर विशेष बल दिया।" विनोबाजीने लिखा है कि "सोचना चाहिए हम संस्कृत किसलिए सीखते हैं। विवेकानन्दने कहा था—"अगर वेदान्तका प्रचार करना चाहते हो तो लोगोंको संस्कृत सिखा दो। तुम्हारा काम हो जाएगा। अर्थात्—विवेकानन्दके खयालसे संस्कृत यानी वेदान्त। गीता, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थ संस्कृतका जीवित साहित्य है। लेकिन कालेजोंकी जड़ परम्पराको यह जीवित साहित्य नहीं भाता। लोक लाजके मारे बी. ए. केलिए कुछ रख लेते हैं।"

"आज दी जाने वाली शिक्षा शिक्षा ही नहीं और नहीं उसे देनेकी वर्तमान पद्धति ही वास्तविक पद्धति है।"

चालू शिक्षासे हानि

"आजकी उदार शिक्षाकी यह महिमा है कि जिस छात्रको ट्र मैट्रिक तक पढ़नेको मिल जाता है। वह श्रमकी क्या अपनी आत्माकी भी प्रतिष्ठा खो

बैठाता है। फिर भी ऐसे लोग हैं ही जो कहते हैं कि इस शिक्षणसे जितना सम्भव हो उतना लाभ अवश्य उठाया जाए। जहाँ गुरु-शिष्य भाव नहीं, त्याग या सेवावृत्तिका नामोनिशान नहीं, नैतिक वातावरण नहीं, स्वधर्मका अभ्यास नहीं, मातृभाषाके प्रति सम्मान नहीं, श्रमकी कोई कीमत नहीं एवं स्वतन्त्र विचारोंका कोई मूल्य नहीं, वहाँ जाकर 'लाभ' किस बातका उठाया जाए?··· प्रचलित शिक्षण-पद्धतियोंमें मानवके विविध अंगोंमेंसे केवल एक अंग—बुद्धिकी ओर ध्यान दिया गया है। वह भी उसके विकासके बदले विलास करनेवाला है।····· आजके हजारों विद्यालय विद्याके आलय=घर न हो करके विद्याके लय=नाश हैं" (विनोवा)

"सरदार वल्लभभाई पटेलके जितने भी भषण हुए हैं, उन सबमें उन्होंने प्रचलित शिक्षण-पद्धतिके बारेमें तीव्र असंतोष प्रगट किया है। किताबी शिक्षण जो इन दिनों हाईस्कूलों और कालेजोंमें प्राप्त होता है, बिलकुल निकम्मा है। इतना ही नहीं बल्कि हानिकारक है—यह बात उन्होंने जोर देकर कही।" ······"अगर आपके मतसे प्रचलित शिक्षण-पद्धति इतनी रद्दी है, तो आप उसे बदल क्यों नहीं देते ? इस प्रश्नका उत्तर भी उन्होंने अपने अहमदाबादके भषणमें दे दिया था—"हम लोग (सरकार) ऐसे जालमें फँसे हैं कि अब उसमेंसे निकलना मुश्किल हो रहा है।" (विनोवा)

—[ये सभी उद्धरण श्री विनोबाजीके 'शिक्षण विचार' मेंसे लिए गए हैं—

विद्यार्थी

मनुष्य निसर्गतः=प्रकृतिसे बुरा नहीं। किन्तु बचपनमें वह अत्यन्त ग्रहणशील एवं अनुकरण प्रिय होता है। घरका, उसके आसपासका तथा बाहर जैसा वातावरण होता है वैसा ही उसका मनुष्यपर अनमिट प्रभाव पड़ जाता है। इसलिए हम विद्यार्थियोंका उतना अपराध नहीं समझते जितना उनके अभिभावकों एवं पथप्रदर्शकोंका समझते हैं। आज तो 'सर्वं स्त्रीमयं जगत्' बना डाला है।

जहाँ भी जाओ वहीं स्त्रियोंके नग्न, अर्धनग्न, विविध वेशभूषामें विचित्र चित्र दिखाई पड़ते हैं। क्या दुनियाँमें दूसरी कोई आकर्षक चीज नहीं रही ? क्या मातृजातिका यह अपमान नहीं ? क्या—हमारी माताओं तथा बहनोंका इस ओर ध्यान नहीं जाता ? क्या वे अपने बच्चों और भाईयोंको पवित्र-चरित्र देखना नहीं चाहतीं ? यदि देखना चाहती हैं तो ऐसी प्रतिज्ञा क्यों नहीं करतीं कि "जिस दूकानपर ऐसे भद्दे चित्र होंगे हम वहां नहीं जाएँगी तथा जिस चीज पर ऐसे नंगे चित्र होंगे हम वह नहीं खरीदेंगी।" वीर महापुरुषोंके नामको लांछित करनेकी एक और कुप्रवृत्ति चल पड़ी है। मादक चींजोंका नाम रखते हैं—'शिवाजी बीड़ी' आदि। इस कुप्रवृत्तिको भी रोकना चाहिए। आजके स्कूलों एवं कालेजोंका जो विषैला वातावरण बना हुआ है वह स्वास्थ्यप्रद तथा कल्याणकारी नहीं कहा जा सकता। अंग-संगोपन जिस वेशभूषाका कार्य समझा जाता था, आज अंगदर्शन एवं अनंगवर्धन उस वेशभूषाका ढंग समझा जारहा है। इसका उदाहरण देनेकी आवश्यकता प्रतीत नहीं हो रही। कारण कि आए दिन इस प्रकारकी अनेक घटनाएँ घटती ही रहती हैं।

मेरे एक परिचित सम्बन्धीका लड़का इस वर्ष मैट्रिक देकर मुझसे मिला। उसने महर्षि भृगुकी भाँति लता, निम्मी, शम्मी कपूर—न जाने किन किनका जन्म-इतिवृत्त बखान करना आरम्भ कर दिया। यह सुनकर मुझे आघात पहुँचा कि राष्ट्रके भावी कर्णधार ये राष्ट्रके बच्चे स्कूलों और कालेजोंमें यही कुछ सीखते हैं ? मैंने उसकी इस चर्चाका रुख मोड़नेके लिए पूछा—अच्छा, बताओ गांधीजी पंजाबी थे या बंगाली ? उत्तर मिला—पंजाबी। यह पंजाबी शब्द स्वयं ही उसके अध्ययनकी कहानी कह देता है।

मैंने देखा है कि जब कहीं गुजरातके रविशंकर महाराज आदि

नेता लोग आते-जाते हैं तब विद्यार्थी जगत्में किसी प्रकारका विशेष हार्दिक उत्साह नहीं उमड़ाता, केवल लोक-परम्पराका पालनमात्र किया जाता है। परंतु जब कोई अभिनेता या अभिनेत्री किसी स्टेशन परसे गुजराता या गुजरती हैं तब विद्यार्थियोंका समुद्र ठाठें मारने लगता है।। उसको मर्यादामें रखनेके लिए—नहीं नहीं अभिनेताओंकी रक्षाके लिए विशेष रक्षा-अधिकारी बुलाए जाते हैं। अन्यथा वे अभिनेता लोग लोगोंके हार्दिक व्यवहारोंसे, हारोंसे तथा उपहारोंसे लदकर ही मर जाएँ। कलाकारोंका सम्मान अवश्य होना चाहिए। परंतु जिन महापुरुषोंने देशकी स्वतन्त्रताके लिए अपने प्राणों तककी बाजी लगा दी क्या वे सम्मानके योग्य नहीं ? देशके हितचिन्तकों तथा लोकनेताओंको इस ओर भी ध्यान देना चाहिए। अन्यथा आगे जाकर पछताना पड़ेगा।

आचार्य

आजके आचार्य (अध्यापक) अननुभवी एवं कम उम्रके होते ही हैं; किन्तु साथमें 'क्रीतदास' भी होते है। विद्यार्थी लोग समझते हैं कि हम अपने पैसोंसे पढ़ रहे हैं। इसमें अध्यापकोंकी कौन-सी कृपा है जिससे हमारा मस्तक झुके ? अध्यापक लोग समझते हैं कि चढ़ते महीने हमें वेतन मिल जाता है, रसातलमें जाएँ विद्यार्थी।

अब गुरु-शिष्यमें वह आत्मीय स्नेहसूत्र कहां है जिसे पकड़कर या जिसके सहारे विद्यार्थी 'अपरा' विद्या प्राप्त करके 'परा' विद्याका अधिकारी होता था ? कितना गौरवमय यह अध्यापक पद था। एकबार राष्ट्रपितामह बालगंगाधर तिलकसे पूछा गया कि "स्वराज्य मिल जानेपर आप कौन-सा विभाग सम्भालेंगे ?" उन्होंने उत्तर दिया—'मैं विद्यार्थियोंको गणित सिखाया करूँगा।" इस उत्तरसे जहाँ अध्यापक पदकी महिमा व्यक्त होती है वहां राजनैतिक अशान्त

कटु वातावरणकी भी गंध आती है। आज जो आएदिन सचिवालयोंमें चप्पल और टोपियां उछाली जाती हैं तथा परीक्षा-परिणाम सुनानेके समय अध्यापकोंपर तलवारें चल जाती हैं। इसका एकमात्र कारण है हमारा दोषमय शिक्षण। इसलिए जितनी भी जल्दी हो सके उतनी जल्दी चालू शिक्षणमें आमूलचूल परिवर्तन कर देना चाहिए। विद्याका–शिक्षाका फल तो है गुणविकास। उसके अंग गीताने सोलहवें अध्यायमें छब्बीस बताए हैं। उनका भावार्थ विनोवाके शब्दोंमें निम्न लिखित हैः—

१. अभयम्—विना कारण न डरें। भय लगे तो भगवान्का नाम लें। भगवान्के नामके सामने भय टिक ही नहीं सकता।

२. सत्त्वसंशुद्धिः—अपने हाथों होनेवाली गलतियां रोजकी रोज सुधारी जाएं। बीते कलकी गलतियां आज न हों और आजकी गलतियां आगामी कल न हों—इसका ध्यान रखें।

३. ज्ञानयोगव्यवस्थितिः—विचार- ठीकसे समझलें। 'समझमें आए हुए विचारोंको अमलमें लाए बिना नहीं रहूँगा' इस वातका पक्का निश्चय करलें।

४. दानम्—अपनी शक्तिके अनुसार, आवश्यकता पड़नेपर, दूसरोंकी मदद करते रहें। यह वात कभी न भूलें कि हमें वहुतोंसे ऐसी मदद मिली है।

५. दमः—हर वातमें अगुआ न वनें। अपने आपको रोक रखें।

६. यज्ञः—कोई न कोई उत्पादक श्रम किए विना भोजन न करें।

७. स्वाध्यायः—प्रतिदिन कुछ समय नियमितरूपसे अध्ययन करें।

८. तपः—अपने शरीरसे गुरुजनोंकी सेवा करें।

९. आर्जवम्—सीधे बैठें, सीधा वोलें और सीधा विचार करें।

१०. अहिंसा—किसीसे मार-पीट न करें। किसीका जी न दुखाएं।

११. सत्यम्—सचाईका वर्ताव करें। सदा सच बोलें।

१२. अक्रोधः—क्रोध कभी न आने दें। क्रोध आना निर्बलताका लक्षण है।

१३. त्यागः—हर बातमें अपना फायदा न देखें। ध्यान रहे कि संसार हमारे भोगके लिए नहीं। किन्तु हम संसारकी सेवाके लिए हैं।

१४. शान्तिः—गड़बड़, धांधली और उतावली न करें।

१५. अपैशुनम्—दूसरेका दोष न देखें, गुण ही गुण ग्रहण करें।

१६. दया—दूसरोंके दुःखसे दुखी हों। दूसरोंका दुःख दूर करनेके लिए व्याकुल रहें।

१७. अलोलुपता—किसी तरहका स्वाद न लगने दें। पेटूपन न करें। थोड़ेमें ही तृप्ति मानें।

१८. मार्दवम्—उद्धतपन न करें। सबसे मिल-जुलकर रहें। मृदुभाषण करें।

१९. ह्रीः—बुरा काम करनेमें लाज लगे। मर्यादाका उल्लंघन न करें।

२०. अचापलम्—हाथ, पैर, आँख आदि अवयवोंकी अकारण हलचल न करें।

२१. तेजः—बलके जोरसे कोई दबाना चाहे, तो न दबें।

२२. क्षमा—कमजोर आदमी कोई गलती करें, तो उसे क्षमा कर दें।

२३. धृतिः—शरीरको कुछ कष्ट हो, तो व्याकुल न हों, धैर्य रखें।

२४. शौचम्—स्वच्छताका ध्यान रखें।

२५. अद्रोहः—किसीसे मत्सर न करें। स्वयं ऊपर चढ़नेके लिए दूसरेको नीचे न गिराएँ।

२६. अनतिमानिता—मैं बड़ा हूँ, यह न मानें। इसीमें सच्चा

वड़प्पन है। क्या विद्यार्थियोंमें वर्तमान शिक्षण-पद्धतिसे यह गुण-विकास हो पाया ?

समावर्तन

विनोबाजीके शब्दोंमें—"आजके शिक्षक (शिक्षित) का अर्थ है—

१. किसी तरहकी भी जीवनोपयोगी क्रियाशीलतासे शून्य।

२. कोई कामकी नई चीज सीखनेमें स्वभावतः असमर्थ तथा क्रियशीलतासेसदाके लिए उकताया हुआ।

३. केवल शिक्षणका घमण्ड रखनेवाला।

४. पुस्तकोंमें गड़ा हुआ और

५. आलसी जीव। केवल शिक्षणका मतलब है, जीवनसे विलगाया हुआ मुर्दा शिक्षण ! और शिक्षकका अर्थ है—'मृतजीवी' मनुष्य !।

किं बहुना, यदि हम विद्यार्थियोंको विनीत वनाना चाहते हैं तो हमें इन राष्ट्रके भावी सपूतोंमें संस्कृत तथा इसकी पुत्री या पौत्री राष्ट्रभाषा हिन्दीका व्यापक एवं गहरा प्रचार करना चाहिए। कारण कि ये तपःपूत सत्यवादी परमसन्तोषी महर्षियोंकी वाणियां हैं। इनमें उनकी तपस्या संक्रान्त है। यही कारण है कि जेलोंमें 'बी. ए.' पास तो अनेकों मिल जाएँगे, पर 'शास्त्री' पास एक भी नहीं मिलेगा। क्यों न प्रधानमन्त्री पदकी प्राप्तिके लिए कमसे कम 'शास्त्री' परीक्षा उत्तीर्ण होना अनिवार्य कर दिया जाए ? भारतेन्दु हरिचन्द्र जीकी यह उक्ति बिलकुल स्थाने है कि—

'निज भषा उन्नति अहै सब उन्नतिको मूल"

"सत्यसारः" [गताङ्कसे आगे]

एकने कहा, 'अज्ञानको जानना ही ज्ञान है,। ज्ञानको जानना अज्ञानका ज्ञान है। वहाँ ज्ञानका विषय अज्ञान है। 'किसको अज्ञान है?' यह जानोगे तो 'त्वं' पदार्थका ज्ञान होगा, 'किसके बारेमें अज्ञान है?' यह जानोगे तो 'तत्' पदार्थका ज्ञान होगा, जब दोनोंकी एकता बतानेवाला वाक्य सुनोगे तो तत्पद-लक्ष्यार्थ और त्वंपद-लक्ष्यार्थका ज्ञान होगा। किन्तु केवल अज्ञानको ही जानोगे और अज्ञानके विषय तथा अज्ञानके आश्रयको नहीं जानोगे; अर्थात् तत्पद-लक्ष्यार्थ और त्वंपद-लक्ष्यार्थको नहीं जानोगे तो अज्ञानको जाननेसे ज्ञान कैसे होगा ? वह न ब्रह्मज्ञान होगा, न ईश्वरज्ञान, न आत्मज्ञान। वह तो अज्ञान-ज्ञान- होगा=माने अज्ञान होगा। तात्पर्य, आज-कल धर्म, ज्ञान और भक्तिपर नये-नये लोग चोट कर रहे हैं। उनकी बात सुन लो, उनको मानो मत, उनसे लड़ाई करने मत जाओ। यह भी एक दुःख है, उसे भी सहन कर लो। सहन करनेसे ही आत्मशक्तिका विकास होता है। तब मनमें लड़ाई करनेकी प्रवृत्ति नहीं होती, सीधे ईश्वरकी ओर बढ़ना होता है।

जो चन्दनका तिलक करे, माला पहने, गेरुआ पहने उसका नाम भक्त नहीं, उसका तो हृदय पहचानना होता है। कुछ वर्ष पहले

हरिबाबाके बांधपर अमुक सम्प्रदायके एक महात्मा पधारे। उस समय वहाँ बड़े जोरोंसे संकीर्तन हो रहा था, लीला हो रही थी। लोगोंकी आँखोंसे झरझर अश्रुधारा वह रही थी। श्रीकरपात्रीजी जैसे उद्भट् ज्ञानी सन्त भी उपस्थित थे। वे भी रो रहे थे। वे लोगों की दृष्टिसे बचनेके लिए मुँह धोने गंगाकी ओर चले गये थे। ऐसा भक्तिका वातावरण था। उस समय आगन्तुक महात्माने प्रवचन किया— 'श्रीहरिबाबाजी जैसे बड़े-बड़े भक्त यहाँ हैं, अच्छे-अच्छे संकीर्तनकार हैं; परन्तु तुम सब तीन जन्मके बाद मुक्त होओगे क्योंकि तुम लोग किसी सम्प्रदायमें दीक्षित नहीं हो। अगले जन्ममें तुम किसी अन्य सम्प्रदायमें दीक्षित होओगे, बादके जन्ममें हमारे सम्प्रदायमें दीक्षित होओगे तब तुम्हारा कल्याण होगा। ''इस प्रकार सब लोग यही दावा करते हैं कि 'हमारा चेला न बने तो तुम भगत कैसे ?'' हजारों सम्प्रदाय हैं, किस-किसका चेला बनेंगे ?

भगवान् नहीं कहते कि तुम अमुकका चेला बनो तब भक्त होगे। खड़ा या आड़ा चन्दन, सफेद-लाल-पीला कपड़ा, माला वगैरह तो बाह्यके चिह्न हैं। हृदयका भाव बढ़ानेमें इनका महत्त्व है किन्तु भक्तकी पहचान इतनी नहीं है। भक्तको अपने प्यारे प्रभुको छोड़कर कुछ भी प्रिय नहीं है। इस बातपर व्रजमें लीलाके प्रसंगमें एक हँसी करते हैं—''पौर्णमासी पुरोहितानी पूजा करा रही है। ग्वालिनी उसे बुलाने आती है; तो पुरोहितानी मना कर देती है कि 'इस समय मैं पूजा कर रही हूँ तो कैसे आऊँ ?' तब ग्वालिनी ललचाती है— 'पुरोहितानी, पाँच रुपये भी लेना और लड्डू भी।' तब पुरोहितानी कह उठती हैं—'अच्छा, ठाकुर तो घरके हैं। पहले रुपया लड्डू ले आवें, पूजा बादमें करेंगे।'

जो लोग कहते हैं—'भगवान् बाहर मन्दिरमें हैं, दिलमें नहीं हैं'

वे नासमझ हैं; किन्तु जो कहते हैं कि भगवान् दिलमें हैं, बाहर नहीं हैं, वे भी उतने ही नासमझ हैं। यह बात मैं बिलकुल ब्रह्मज्ञानकी करता हूँ। परब्रह्म परमात्मामें जब 'देश' नामकी कोई वस्तु ही है, कल्पनाकी नोकपर फुरती है; तो अन्तर्देश-बहिर्देशका भेद करके कहना कि 'भगवान् अन्तर्देशमें हैं, बहिर्देशमें नहीं हैं' अथवा 'भगवान् बहिर्देशमें हैं, अन्तर्देशमें नहीं हैं' यह गलत है। उपासनामें तुम्हें जहाँ अनुकूल पड़े वहाँ भगवान्‌का ध्यान करो। सोचो कि भगवान् सामने खड़े हैं और तुम उन्हें चन्दन लगाते हो; तो भी भगवान् तुम्हारे भावमें हैं और यह सोचो कि भगवान् तुम्हारे हृदय कमलपर खड़े हैं और भाव ही चन्दन लगानेका करते हो; तब भी वे तुम्हारे भावमें हैं। ये दोनों उपाय तुम्हारी भक्ति बनानेके लिए है, कोई कहे कि 'तुम'में ब्रह्म है, 'मैं' में नहीं या 'मैं' में ब्रह्म है 'तुम' में नहीं तो दोनों बातें गलत हैं। दोनोंने ब्रह्मको नहीं पहचाना। परब्रह्म परमात्माकी दृष्टिसे देखो। ब्रह्म 'मैं' में भी है, 'तुम' में भी है। ब्रह्म वेत्ता पहचानता है कि 'वही परब्रह्म समाधि और विक्षेप दोनोंमें है। योगी लोग कहते हैं,—परमात्मा समाधिमें है : भक्त लोग कहते हैं—'हमारे भगवान् शालग्राममें हैं। एकने कहा, 'परमात्मा शान्तिमें हैं' तो दूसरेने कहा—'भगवान् नाचने-कूदने—गानेमें हैं'। दोनों अपने भावमें हैं। भाव करते-करते जो असली है, सो मिल जायगा।

परमेश्वर तो सबमें हैं—नाककी नोकपर, जीभकी नोकपर या वस्तुकी नोकपर, । न मानें तो कहीं नहीं हैं। दृढ़ हो जाओ, अपनी साधना मत छोड़ो; अपना गुरु, अपना मंत्र अपना इष्ट, किसीको, भी मत छोड़ो। कहीं पक्के होकर बैठ तो जाओ ! जहाँ पक्के होकर बैठ जाओगे; वहीं परमेश्वर मिल जायगा। कच्चे होकर हट जाओगे;

तो वह कभी-कहीं नहीं मिलेगा। एक जगहपर तुमने उसका तिरस्कार किया तो वह दूसरी जगहपर क्यों आने लगेगा? अपने सत्य पर दृढ़ हो जाओ। भक्त वही है जिसके जीवनका सार सत्य है।

अनवद्यात्मा

भक्तका आत्मा अनवद्य है। वह एक बातका खयाल रखता है 'हमारा मन निष्पाप-निष्कलंक रहे, कोई मैल न लगे'। जो बाहरके आडम्बरमें फँसा है वह भक्त नहीं है। अवद्य माने काट दे। अपना-पराया, मैं-तू, तेरा-मेरा, दूसरेको तकलीफ पहुँचानेका भाव या क्रिया ये सब पाप हैं। श्रीधरस्वामीने लिखा है—'अवद्य माने असूया आदि दोष'। कोई भक्तिमें आगे बढ़े और अपने दिलमें ईर्ष्या जगे तो वह पाप है। ईर्ष्याकी जगह खुशी होनी चाहिए और 'स्वयं भी भक्तिमें आगे बढ़ेंगे।' ऐसा विश्वास होना चाहिए। किसी भक्तके बाह्य चिह्नोंको, माला आदिको ढोंग मत कहो, उसमें भी उसका भक्तिभाव देखो तो तुम्हारी भक्ति बढ़ेगी।

अनवद्य माने किसीकी काट-छाँट मत करो। भक्तका हृदय निर्मल होता है। वह चाहता है, 'जिस भगवान्‌की मैं भक्ति करता हूँ; उसमें सारी दुनियां लग जाय।

'समः' भक्त किसीसे राग द्वेष, पक्षपात नहीं करता। वह सबमें अपने इष्टदेवको देखता है। चोर और साहूकार दोनों भूखे हों तो धर्मात्मा मजहबी विवेक करने लगेगा कि चोरको रोटी मत दो, साहूकार मानेगा ईमानदारको रोटी दो। भक्त सोचेगा, "पाप-पुण्यका फल देना भगवान्‌के हाथमें है। हम जल्लाद तो नहीं हैं कि सजा दें? हम तो दोनोंमें इष्टदेव देखते हैं। अपने इष्टदेवको हम रोटी देंगे। रोटी पानेका अधिकार जितना चोरको है उतना ही साहूकारको भी। सती-सावित्री, वेश्या दोनोंको रोटी पानेका अधिकार है।

भक्तिमें यह भेद नहीं है।

भक्त वह है जिसका हृदय भक्तिके रंगमें रंग जाय। परमेश्वरके रंगमें आँख ऐसी रंग जाय कि जिसकी ओर देखे भगवान् ही दीखें। भगवान् चोरी करनेकी आदत न छूटनेपर गोपियोंके घरमें माखन चोर बनने आये।

ज्ञानी, योगी, भक्त तीनोंकी समतामें अन्तर है। भक्त चोर-साहूकार दोनोंमें अपने ईश्वरको, एक चैतन्यको देखता है। योगी सबको तो प्रकृतिका खेल कहता है, दृष्ट-आत्मा नहीं कहता। वह कहता है—'हम तो देखनेवाले चैतन्य हैं, चोर-साहूकार दोनों अपने स्वभावके अनुसार सच्चे हैं। ज्ञानी वह है जो दिन और रात, पीठ और पेट, बायाँ हाथ और दायाँ हाथ, पशु-पक्षी और मनुष्य, जड़ और चेतन सबमें अपने-आपको देखता है।

भक्तका दिल पुलिसका रजिस्टर नहीं है कि वह सबको जाँचता रहे। वह तो सबमें अपने प्रियतमका दर्शन करता है, गुण-गान और नामसंकीर्तन करता है, सबके व्यवहारमें भगवान्‌के स्वभावको देखता है। दंडी-संन्यासीको भिक्षाग्रहणमें अनेक कठोर नियमोंका पालन करना होता है—गर्भवती, रजस्वला, अन्य पुरुष किया हो, कुलमें कलंक हो, जातिसे बाहर हो, ऐसी स्त्री या ऐसे व्यक्तिसे भिक्षा नहीं लेना चाहिए। सबमें कोई न कोई दोष तो मिलेगा ही। तब तो भिक्षा पाना मुश्किल हो जाय। उसका जप, आत्मानुसंधान आदि छूट जाय, दुनियाँका ही खयाल करना पड़े। भक्तिका अभिप्राय है, अपने हृदयको सुधारना। किसीकी चोरी, व्यभिचार, झूठका ध्यान करते करते वह दोष अपने ही दिलमें आ जायगा। अपने दिलको ठीक रखो, जहाँ तक हो सके सबकी भलाई करो ! सूर्य क्या सबकी भलाई नहीं करता ?

'सर्वोपकार:'

स्वामी शिवानदंजी पहले स्वार्गाश्रममें रहते थे, फिर मुनिकी रेतीमें रहने लगे। पूर्वाश्रममें वे डॉक्टर थे। अपनेको अप्पय दीक्षितके वंशज बताते थे। ऐसे निर्मल-हृदय थे कि जो अपने पास आये; उसे कुछ न कुछ देना; उनका स्वभाव था। पुस्तक, पैसा, भोजन जो हो; देते रहते थे, एक दिन उनके पास एक खोमचेवाला आया। उन्होंने उसे कुछ पुस्तकें और पाँच रुपया दिया। वहाँ उपस्थित एक सज्जनने कहा—यह तो दहीबड़ा बेचता है, पैसा कमाता है, इसे पांच रुपये व्यर्थमें क्यों दिये ? वे बोले—'देखो भाई, आमका पेड़ जब फलता है तब नहीं पूछता, कौन हमें खायेगा ? धरती नहीं कहती, कौन हमपर अपना पाँव रखे और कौन न रखे ? गंगाजी नहीं कहतीं कौन हमें पीये और कौन न पीये ? हवा नहीं कहती, कौन सांस ले, कौन न ले। हम तो विश्व-विराट् हैं। जैसे सूर्य-चन्द्र; धरती-पानी-हवा-आमका वृक्ष पक्षपात नहीं करते, सबकी भलाई करते हैं; वैसे ही भक्त सर्वोपकारक है। अपना-पराया करने-वालेको भक्तिमार्गमें नहीं जाना चाहिए। ढूढ-ढूंढके भलाई मत करो। जो अपने सामने आ जाय उसे मीठी आँखसे देख लो, उससे मीठी बात करो, ठंडा जल पिला दो। ० ० ०

गीता का आत्मसंयम योग

(रचयिता—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी)

पुनि बोले भगवान कौन सन्यासी अरजुन।
सुनो बताऊँ तुम्हें जथारथ तिनिके लक्षन॥
आश्रय तजिके करम फलनिको बनि निरमानी।
करे करम करतव्य बनें नहिं कबहूँ मानी॥
सच्चो सन्यासी वही, योगी अरु विद्वान हैं।
अग्नि क्रिया तजि बनिये अक्रिय नहीं महान हैं॥ १॥

योग और सन्यास माहिं कछु अन्तर नाहीं।
जो पद पावें करम योग सन्यासहु माहीं॥
संकल्पनि को त्याग त्याग ही सत्य बतायो।
मन संकल्प विकल्प करै करमनि बिसरायो॥
संकल्पनि त्यागे बिना, भ्रमत भ्रमत मरि जायगो।
सन्यासीको वेष धरि, त्यागी नहीं कहायगो॥२॥

योग माहि आरूढ़ होनकी इच्छा जाकी।
ताको कारन करम मनन महँ वृत्तिहु ताकी॥
करत करत पुनि करम होहि आरूढ़ ब्रह्मपद।
शम पुनिताको हेतु करममें भयो विशारद॥
योगारूढ़ भयो जबहिं, सकल शोक दुख कटि गये।
योगारुढ़ भये बिना, निरभय कोई नहिं भये॥३॥

इन्द्रिनिके जो भोग वही आसक्ति करावें।
बढ़ि जावे आसक्ति करममें तब लगि जावें॥
भोगनिमें आसक्ति न होवें करमनिमें जब।
अनासक्त बनि गये भये योगी समुझो तब॥
सरब करम सकल्प कूँ, तजि फल आशा जे करहिं।
ऐसे फलत्यागी पुरुष, योगारूढ़ तिन्हें करहिं॥४॥

★ —क्रमशः

महाराजश्रीके सत्सङ्गसे

'सर्व और केवल'

—दिनकरराय व्यास

सर्व कहना और केवल कहना इसमें फर्क है। एक कहना और अद्वय कहना इसमें फर्क है। इस बातको समझना चाहिये।

सम्पूर्ण संख्याओंकी जो समष्टि होगी उस समष्टिको सर्व बोलेंगे बहुतोंके जोड़को सब कहते हैं और जिसमें बहुत्व नहीं हो उसको केवल कहते हैं। परमात्मा केवल है—अकेला है। जिसमें एक बटे दो न हो, अकेला हो। जिसमें एक-एक दो नहीं, वह अकेला, अर्थात् अद्वय ब्रह्मतत्त्व।

जैसे एक-एक दिन, एक-एक रात गिनते चले जाओ तो सम्पूर्ण दिन और रातोंकी जो समष्टि होगी उसको सर्वकाल कहेंगे। लेकिन जिसमें यह काल नहीं है वह अकाल है।

एक-एक इंच, फिर एक-एक फुट, फिर एक-एक गज, एक-एक मील इस प्रकार जोड़ते-जोड़ते जो देशकी समष्टि होगी, जिसके बाद देशका नाप नहीं हो सकता। छोटे-से छोटा देश और बड़े-से बड़ा देश-यह देश विस्तारका सूचक है और इस देश समष्टिको सर्व देश कहते हैं। यह सर्व देश जिसमें कल्पित है, जिससे यह सर्व देश नहीं है उसे परिपूर्ण अद्वय कहते हैं।

ये कण, कण, कण—सब कणोंको जोड़ दिया, एक—कण भी शेष नहीं रहा, भविष्यकालमें होनेवाला कण भी बाकी नहीं रहा, वर्तमानमें बिखरा हुआ कण भी बाकी नहीं रहा, इन सब कणोंकी जो समष्टि होगी वह होगी सर्व वस्तु। वह जिस प्रकाशमें दिखाई पड़ रही है, उन सबका जो अधिष्ठान है, जिनमें ये वस्तुएँ नहीं हैं, उनके अत्यन्ताभावका जो साक्षी-अधिष्ठान है उसको-कहते हैं ब्रह्म। प्रत्यकचैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वमें यह जो काल सृष्टि है कला,—काष्ठ, मुहूर्त, क्षण आदि और उसमें जो यह देश सृष्टि है इंच फुट आदि और उसमें जो वस्तु सृष्टि है—अणु, परमाणु आदि ये सब जिसमें भास रहे हैं, जिसमें कल्पित हैं, जो इनका अधिष्ठान है, जो इनका प्रकाशक है, और जो इनके अत्यन्ताभावका भी अधिष्ठान और प्रकाशक होनेके कारण इनसे सर्वथा रहित है; उस अत्माको ब्रह्म कहते हैं, उस आत्माका नाम ब्रह्म है और ऐसा यह अपना आत्म ब्रह्म है। ० ०

वह जन-पथ

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

जन-पथ पर कोलाहलकी तुमुल ध्वनि गूँज रही थी। चारों ओर अपार चहल-पहल थी। राष्ट्रपति की सवारी निकलनेवाली थी। सभी अपनी-अपनी कहते थे, किन्तु कोई किसीकी सुनता न था। इसलिए इतनी अशान्ति और अव्यवस्था थी। बीच-बीचमें पुलिस सैनिक कर्त्तव्य-बोधकी पुकार लगाते जातेथे। परन्तु धकापेलके प्रवाहमें उनकी वाणी शब्द प्रकट करकेभी अर्थ न देपाती थी। फलस्वरूप लोग खीजते और झुँझलाते थे। परस्पर एक दूसरे पर रोष प्रकट करते थे। उनकी आँखें भीत भावसे इधर-उधर भटक कर रह जाती थी, कहीं एक स्थान पर टिक न पाती थी। बड़ी विलक्षण अवस्था थी।

सभी शान्ति और व्यवस्था चाहते थे किन्तु वह प्रायः सबके लिए दुर्लभ थी। मोटर गाड़ियाँ अतृप्त कामनाओंकी भांति तीव्रगतिसे दौड़ लगा रही थी, शीशे चकाचौंध पैदा करते रहते थे और भोंपे गर्वोन्मत भावसे बज उठते थे, किन्तु वहाँ भी शान्ति और सन्तोषका अभाव था। व्याकुलता सर्वत्र व्याप्त थी।

एक ओर यह दशा थी और दूसरी ओर इस अशान्ति और कोलाहल के बीच भी धीर-गंभीर और अविचल भावसे जन-पथ शान्त और अडिग पड़ा था। भीड़के बीच भी वह अकेला था। वह सबका भार ग्रहण करते हुए भी निष्काम भावसे स्थिर था। वह दर्शक ही नहीं, साक्षी भी था।

इतनेमें राष्ट्रपतिकी सवारी आकर निकल गई। उनके दर्शन-लाभसे किसने क्या पाया और गंवाया यह तो ठीक पता नहीं, किन्तु इतना स्पष्ट अवश्य था कि वह जीवन्मुक्तकी भाँति निर्लेप और निर्विकार था। उसे न तो भीड़का भय था और न उसके चले जानेका मोह। वह रात-दिन जागरूक भाव से सेवा परायण था यही उसका कर्म था, यही उसका धर्म था और यही उसका जीवन था। इसीलिए उसे किसी लाभका लोभभी सताता न था।

सतिगुरप्रसाद

[भक्त प्रवर श्री कोकिलसाईं]

(गतांकसे आगे)

अब ईशानुग्रहसे मधुर-मिलनका सौभाग्य प्राप्त कर प्रफुल्लित हुई हैं, यह उनका सुख सौभाग्य सर्वदा अविचल रहे। इसी दानके लिए पल्ला पसार रही हूं, कृपाकर मेरी झोली श्रीस्वामिनी महारानीके सुखोंसे भर दें। श्री कौशल्या मैयाने भी ननदोईके यहांसे यही सन्देश भेजा है कि वत्स राम !' मेरी लाड़ली बेटी बैदेहीके चित्तको सदा प्रसन्न रखो। कभी भी उसे भय व चिन्ताकी वार्ता न सुनाना।''

हे बापू रामभद्र ! मेरी भी जीवन सर्वस्व श्री श्रीस्वामिनी जनकनंदिनी हैं। उनके दिलके धनी अम्बा श्रीजीके चरणकमलोंसे अलग रहनेमें मैं अपना जीवन व्यर्थ मानती हूं। अपने जीवन धन के सिवाय जीवन भारमात्र ही है। इसलिये ही मैं बार-बार आपके द्वारपर आरजू-मिन्नत करती हूं

मैं सत्य कहती हूं कि मुझे न किसी सांसारिक सुखकी अभिलाषा है और न ब्रह्मसुख विदेह कैवल्यादिकी कोई स्पृहा है। मेरे हृदयमें एक ही उत्कण्ठा, अभिलाषा, और प्यास है कि आप युगलधनी श्री जानकी रामचन्द्र जी सदा प्रसन्न रहें। आपके आनन्दमंगलमयी आंगनमें कोई भी व्याकुलताकी वार्ता न आने पावे। केवल सुख-हर्ष—आनन्द ही आनंदका प्रादुर्भाव होता रहे। बैरी विघ्न, रोग शोक सबके सब दूर हो जायें। सुखोंकी सरिताएं जहां तहांसे प्रवाहित

हो आपके श्री चरणकमलरूप सागरमें आकर निवास करें। हे कौशलचन्द करतार ! आप अयोध्याके निष्कलंक निर्मल एवं दिव्य चन्द्रमा हैं, मैं सर्बदा आपकी सेवा और सुखकी अभिलाषिणी होकर नित्य-नूतन निर्मल नेह निभाती रहूं।

नींहडो निभायां मिठी मैथिलिड़ो माव सों।
सुसुख कीं कामना समूल जर जाय सों ॥

हमारे हृदयमें सर्वदा तत्सुख की भावना बनी रहे। छल-कपट, स्वार्थरहित, उज्ज्वल अनुराग बढ़ता रहे।

मेरे नित्य आराध्य प्रभो ! मैंने बचपनसे ही आपके श्रीचरण कमल ध्याये हैं। ओ मेरे बालसंघाती ! वह बालपनका नेह-नाता पहचानिये, कि मैं जन्मसे ही आपकी हूं। मेरा जन्म केवल आपके निमत्त हुआ है।

हे गरीबि श्रीखण्डिके सरदार ! आपका सर्वदा जै जैकार हो।

माता मां निमाणी, अमां मां अयाणी
माता मां निमाणीं शरणि पवां थी, शरणि पवां थी शरणि पवां थी।
सती सत्याणी तूं ई शीलमणि राणी
मां आहियां अमाणी तूं सभु थी जाणी
तुंहिंजे अगियां माई पलि, पलि निमां थी पलि पलि निमां थी ॥
श्रीराम प्राणप्यारी तूं श्री जानकीराणी
माता सिया तूं जग जी धयाणी
मुख सां चवां थी मुख सां चवां थी,
कुछ न चवां यी कुछ न चवां थी।
महिषी सबाभनी मैथिली माई
सिकिड़ी मंगा थी सदा सुखदाई
जनम जनममे अमा पपड़ा पसाई
श्री खण्डिदासी रासिमें रसाई रासिमें रसाई रासमे रसाई ॥१२॥

श्री कोकिल साईं, एकान्त अनुरागमें मग्न होकर, श्री स्वामिनी महारानी श्री मिथिलेशनन्दिनीके चरणकमलोंके समीप बैठकर, जैसे नन्हीं-सी बालिका, अपनी प्यारी मैयाको रिझाती है, मनाती है; उसी भावसे कोकिल बच्चीके रूपमें, उमंगमें गद्गद हो, सुघर नृत्यकर मधुरस्वरसे गीत गानकर प्रसन्न करती हुई कहती है—

मेरी रानी अमाँ ! मैं आपकी अत्यन्त निमानी बालिका हूं। मेरा सब सहारा आप ही हैं। जैसे बिना पंखोके पक्षीशावकका सहारा उसकी पक्षिणी मां है, वैसे ही मुझे भी और कोई माता-पिता सज्जन, सुहृद अपना नजर नहीं आता। मैं आपकी अबोध अनजान बालिका हूं। आपको किस प्रसार प्रसन्न व सन्तुष्ट करूं। और आपके अनुकूल आचरण करनेका मुझे ज्ञान नहीं है। आप जैसी सर्वेश्वरी जननी जगदम्बा राज राजेश्वरी माता मुझे प्राप्त हुई हैं, उनके चरण-कमलोंके समीप बैठनेके लिये जो शुभगण होने चाहिये, उनसे अनभिज्ञहूं ! प्यारी माँ ! मैं आपके श्री चरण-कमलोंकी शरण हूं, शरण हूं, शरण हूं।

श्रीस्वामिनी जू ! आपकी महिमा महान है। आप सब सतियोंकी सिरताज हैं। आपके सत-प्रतापकी परिछाहीका आश्रय लेकर सब सतियां सतवन्तीबनी हैं। आप शीलमणि रानी हैं अर्थात् शीलवन्त देवियों की शिरोमणि हैं। आपको अपने सतधर्म, पातिव्रतको परम उच्चता का किंचित् भा मान नहीं है ! आप अनन्तशीलसे परिपूर्ण हैं। सती अनुसूयाने जब पातिव्रत-धर्मकी शिक्षा दी, तब वह आपने परम श्रद्धा और आदरसे श्रवण की; यद्यपि आपके सामने वह शिक्षा बच्चोंके समान थी। वन-यात्राके समय श्री कौशल्या महारानीने प्राणनाथके साथ दुखसुखादि सब स्थितियोंमें एकरस नेह निभानेका जो उपदेश दिया; वह भी आपने बड़े स्नेहसे अनुग्रह मानकर शिरोधार्य किया। यह आपका सुन्दर शील है।

[क्रमशः]

यह प्रभा हैं,
जिस प्रभासे, प्रभाकर आकर प्रभाका,
जो प्रभाकर सृष्टिमें.
अविराम जीवन प्राण भरता,
त्राण करता निखिल जगका,
यह प्रभा है,
जिस प्रभासे सुधाकर, आकर सुधाका,
जो सुधाकर, इस धरापर
सुधाकी किरणें बरसता,
सौम्य शीतल चन्द्रिकासे
दृष्टिको, मनको परम आनन्द देता,
यह प्रभा है,

जिस प्रभासे जगमगाते व्योममें जाज्वल्य तारे,
जो निखिल ब्रह्माण्डकी कुछ झलक देते
यह निखिल निस्सीम है, यह सिद्ध करते ।
ये हमें देते दिखाई दूरसे,
अति दूरसे भी,
दूर ये लाखों करोड़ों मील हमसे,

किन्तु यह दूरी न बाधक,
इन्हींकी ज्योतित विभाके बल
हमारी दृष्टिकी है पहुंच इन तक ।
यह प्रभा है,
जो कि दामिनिमें दमकती,
जिस प्रभाका कण लिये घनघोर तममें,
तुच्छतम जुगनू चमकता,
यह प्रभा है,
धरा पर जो स्वच्छ निर्मल,
यह प्रभा उसमें उतरती,

मूलका प्रतिबिम्ब बनकर,
प्रस्फुटित होती उसीमें,
सूर्य, शशि, तारे, तड़ित,
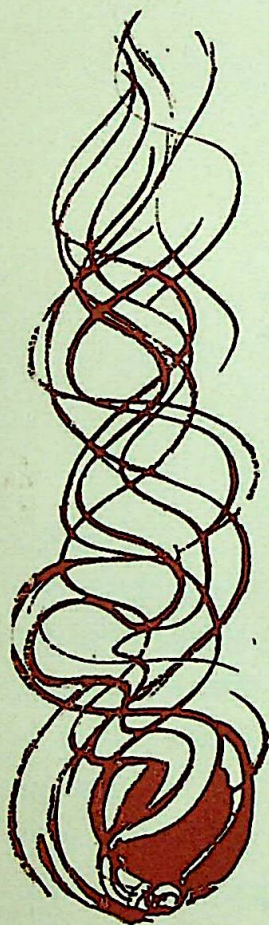
उस स्वच्छमें ही प्रकट होते,
चमक उठते,
भ्रान्ति होती—

यहाँ रवि है यहाँ शशि है,
यहाँ तारावलि चमकती।
यह प्रभा है,
अग्नि है जिससे चमकती,
अग्नि अपनी चमकको जब त्याग देती,
राख बनती,
यह प्रभा है,
व्यक्ति जिससे चमक उठता,
व्यक्ति उठ जाता धरासे,
पर प्रभा व्यक्तित्वकी अक्षुण्ण रहती,
वह अनश्वर,
कालका अभियान जिसको खा न पाता,
पर्वतों औ सागरोंको लाँघ कर तो चमक उठता,
धराके इस छोरसे उस छोर तक,
रहता प्रकाशित।
ज्योति निधि व्यक्तित्व यह,
उस व्यक्तिमें अभिव्यक्त होता,
जो कि निर्मल स्वच्छ मन है,
पात्रता जिसमें अनूठी,
सन्तकी पावन प्रभा,
सानन्द उसमें आ समाती।
यह प्रभा है।
जिस प्रभासे स्वत्वमें अग जग अखिल है,
कोटिशः ब्रह्माण्ड,
हैं जिस ज्योति से ज्योतित सदा से,

है जहाँ तम,
हैं वहाँ अवरोध कोई,
ओट कोई,
आवरण कोई वहाँ है,
तिमिर के विम्ब का ही,
तिमिर का आकार निर्भर आवरण पर,
स्वयंका अस्तित्व तमका कुछ नहीं है,
ओट हटते ही तमका नाम रहता,
यह प्रभा है
जहाँ पहुँची,
तिमिर भी अपराजिता सेवा न ठहरी,
कर गई तत्क्षण पलायन तीव्रतासे,
किन्तु यह क्या ?
भगी तो पर भग न पाई,
प्रभा का दर्शन किया,
तो बन गई वह भी प्रभा ही।
यह प्रभा है,
जो चमकते इस प्रभा से,
चमकके अतिरिक्त वे क्या,
चमकके कारण न हम कुछ समझ पाते।
समझ लेते, चमकके अतिरिक्त वे कुछ भी नहीं हैं,
भूमि, जल, आकाश, पावक, पवन,
पाँचो तत्त्व हैं,
पर इन सबोंके स्वत्वका आधार,
केवल यह प्रभा ही,

इस प्रभासे ही टिका अस्तित्व इनका,
यह प्रभा है,
इस प्रभासे सृष्टिमें सिरमौर मानव,
क्योंकि मानवमें प्रभा,
अन्यान्य जीवोंकी अपेक्षा,
अधिकतम विकसित हुई है,
यह प्रभा है,
पाथेय पावन है पथिक हित,
पथिक जिसका एक ही गन्तव्य है,
पथिक, जिसका एक ही मन्तव्य है,
इस प्रभाके स्रोतमें तद्रूप होना,
विश्वके व्यापारसे उन्मुक्त होना,
जो कि इस गन्तव्य हित चिन्तित निरन्तर,
अनवरत इस ओर ही जो साधना रत,
यह प्रभा सन्तुष्ट उस पर,
नित्य ही उसमें चमक कर,
सतत अधिकाधिक चमक कर,
लीन कर लेती चमक में,
चमकका ही रूप देती,
धरा उसकी धन्यता पर मुग्ध होती,
सदा ही गुण गान करती उस पुरुषका,
यह प्रभा है। ० ० ०

भारतीय वाङ्मयमें वेदोंका स्थान सर्वोच्च माना गया है। उस वेदकी पुरुषरूपमें कल्पनाकर शास्त्रकारोंने प्रमुख वेदाङ्ग व्याकरणको वेदका 'मुख' माना है : मुखं व्याकरणं स्मृतम् 'जो अपने स्वरूपसे ही सभी अङ्गोंमें अपनी मुख्यता बतलाता है। वही वैदिक व्याकरण लौकिक संस्कृतका विकास होनेपर अपेक्षित परिवर्तनोंके साथ लौकिक संस्कृत का भी मुख बन गया। व्याकरण-ज्ञानके बिना प्राणींकी कैसी दुर्दशा होती है वह बोलता कुछ है तो अर्थ कुछ और ही होता है — अनर्थ बन जाता है, इसका सुन्दर चित्र एक प्राचीन सूक्तिमें मिलता है, जो एक पिताका अपने पुत्रको उपदेश रूप है। वह कहता है :

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत् ॥

अर्थात् वत्स ! अधिक पढ़ना न चाहो तो भी व्याकरण अवश्य पढ़ो। नहीं तो 'स्वजन' को 'श्वजन' (कुत्ता) कह बैठोगे, 'सकल' (सम्पूर्ण) के लिए 'शकल' (टुकड़ा) कहने लगोगे और 'सकृत्' (एकबार) के अर्थमें 'शकृत् (विष्ठा) का प्रयोग कर गुजरोगे।

इस व्याकरणका प्राण 'अष्टाध्यायी' है जो महर्षि पाणिनिकी रचना है। इसे आचार्योंने 'जगन्माता' कहा है :

अष्टाध्यायी जगन्माताऽमरकोशो जगत्पिता ।
भट्टीकाव्यं गणेशश्च त्रयीयं सुखदास्तु नः ॥

अर्थात् पाणिनिको यह 'अष्टाध्यायी' जगन्माता पार्वती है, अमरसिंहका 'अमरकोष' जगत्पिता शंकर हैं, भट्टीकविका 'भट्टीकाव्य विघ्नविनाशक गणेशजी हैं। तीनोंका यह परिवार हम सबके लिए कल्याणकारी हो, ऐसी कविकी प्रार्थना है।

इस तरह अन्यत्र महत्त्वपूर्ण होते हुए भी व्याकरणशास्त्रके भाग्यमें जन्मसे ही नीरसता, शुष्कताका कलंक लगा हुआ है, जो मिटाये नहीं मिटता। अवश्य ही उसके छोटे भाई साहित्यने अपनी सहजसिद्ध रसकी सरितामें, ध्वनिके कल्पनारम्य कोमल-कान्त वातावरणमें उन—शुष्क सूत्रों एवं नियमोंको खींचलानेका जब-तब कम प्रयत्न नहीं किया है। ऐसे ही प्रयत्नोंमें से कुछ संकलित-कर यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। देखें, शायद इस शुष्कतरुमें कुछ रस-संचार हो जाय !

हाँ, तो पाणिनिका यह 'अष्टाध्यायी' नामक संस्कृत व्याकरण-ग्रन्थ ढाई हजार वर्ष पूर्वकी रचना मानी जाती है। यह व्याकरण-सूत्रमय है, जिनकी संख्या करीब चार हजार है। मूलतः वे व्याकरणकी दृष्टिसे रचे गये, फिर भी कवियों द्वारा अपनी सुविधाके लिए अन्य ही अर्थ लगाकर उनका काव्यमें उपयोग दिखायी पड़ता है। अनुभव ऐसा ही है। मनुष्य सहज ही कोई वाक्य बोल जाता है। उसका वाच्यार्थ ही ग्राह्य होता है। किन्तु कवि उसमें से और ही 'ध्वनि' या 'व्यंग्यार्थ' निकालता है और उसके द्वारा सहृदयोंको रस चर्वणा कराता है।

इस प्रकार कुछ सूत्र और उनके वाच्यार्थ लेकर कवि उनका उपयोग अन्य प्रकारसे कैसे करते हैं, इसके कुछ नमूने देखिये ।

(१) पाणिनिका एक सूत्र है : विप्रतिषेधे परं कार्यम् (१।४।२) । इसका वाच्यार्थ है : किसी प्रयोगको सिद्ध करते समय दो तुल्य बल-वाले सूत्रोंकी प्राप्ति होनेपर 'पर' यानी क्रमसे जो बादमें पड़े, वही बलवान् होकर लागू होता है ।

अब कवि कहता है :

निजपतिराद्यः प्रणयी हरिर्द्वितीयः करोमि किं गोपि ।
शृणु सखि पाणिनिसूत्रं विप्रतिषेधे परं कार्यम् ।।

एक ग्वालिन दूसरी ग्वालिनसे पूछ रही है : 'अरी मेरा पति तो विवाहके समयसे ही मेरा प्रणयी है पर अब यह 'कृष्ण' भी प्रेम करने लगा है । तब बता, मैं क्या करूँ ?' इसपर उसकी सखी मजाकके तौरपर उसे बताती है : कि 'ऐसे मौकेपर पाणिनिका विप्रतिषेधे परं कार्यम् सूत्र याद कर—उसीके अनुसार आचरण कर । यानी पहलेको छोड़ बादवालेको भज !'

इसी अर्थके पर भाव भंगिमामें कुछ अन्तरके साथ दो श्लोक और मिलते हैं :

समुपागतवति नाथे गेहे कृष्णे करोमि किं त्वद्य ।
स्मर सखि पाणिनिसूत्रं विप्रतिषेधे परं कार्यम् ।।

किं वा निजपतिराद्यः प्रणयी तदनु च हरिः किं करोतु सा राधा ।
शृणु सखि पाणिनिसूत्रं विप्रतिषेधे परं कार्यम् ।।

राधाका पति पहलेसे ही उसपर प्रेम कर रहा था, पर बादमें हरि (कृष्ण) भी पहुँचे, तो ऐसे समय राधा क्यां करे ? हे सखि ! ऐसे समय पाणिनिका विप्रतिषेधे परं कार्यम् सूत्र याद कर । व्यंग्यार्थ-है कि पहले को छोड़ कृष्णसे प्रेम कर ।

(२) अनेक सूत्रों को मिलाकर उनके अर्थको एक साथ जोड़ते हुए किसी कविने एक श्लोक रचा है। श्लोक तो बादमें बताया जायगा, पहले पाणिनिके इन सूत्रोंको समझ लें। ये सूत्र इस प्रकार हैं: १. पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति (४।४।३५)। इसका वाच्य अर्थ यही है कि मत्स्य और मृग किंवा इनके पर्यायवाचक शब्द से 'हिंसन' अर्थमें ठक् (इक्) प्रत्यय होता है। जैसे : पक्षियोंको मारनेवाला 'पाक्षिक' कहलाता है। इसी तरह मोरोंको मारनेवाला 'मायूरिक्' 'मात्स्यिक' (मछलियोंको मारनेवाला) 'हारणिक' (हिरनोंको मारनेवाला), 'मार्गिक' (मृगोंको मारनेवाला) आदि रूप मूल धातुओंसे ठक् प्रत्यय होनेपर ये शब्दोंके बनते हैं।

२. परिपन्थे च तिष्ठति (४।४।३६)। 'परिपथिन्' शब्दसे 'खड़ा रहना' या 'मार डालना' इस अर्थमें इक् प्रत्यय लगता है जैसे : रास्ता रोककर खड़ा होने वाला या मार डालनेवाला 'परिपथिक' अर्थात् चोर कहलाता है।

३. 'व्रातेन जीवति (५।२।।२१)। व्रात यानी शारीरिक श्रम करके (बुद्धि वैभवसे नहीं) जो जीविका चलाता है—इस अर्थमें' 'व्रात' शब्दसे ख (ईन्) प्रत्यय होता है।जिससे व्रातिननः' रूप बनता है जिसका अर्थ है, शरीर-श्रम करके जीविका चलानेवाला।

४. पूर्ववत् सनः (१।३।६२)। इसका अर्थ है कि धातुसे 'इच्छा' अर्थमें सन् प्रत्यय होनेके बाद धातुका मूल पद (परस्मै पद या आत्मनेपद, जो हो) बना रहता है।

५. अधुना (५।३।१७)। इसका अर्थ यह है कि सप्तम्यन्त 'इदम्' शब्दके 'काल'दचक 'अधुना' प्रत्यय लगता है मूल शब्दका लोप होकर प्रत्यय ही शेष रहता है और उसका अर्थ होता है, 'इस समय'।

६. 'न वशः' (६ । १ । २०)। इसका अर्थ यह है कि 'वश्' धातुका यङन्त रूप बनाना हो तो सम्प्रसरण नहीं होता और रूप बनता है 'वावश्यते'। अब पाणिनिके इन्हीं छह सूत्रोंको एक ही श्लोकमें गूँथकर कविने जो श्लोक बनाया, वह इस प्रकार है:

(१) पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति (२) परिपन्थं च तिष्ठति।
(३) व्रातेन जीवत्यधुना (४) न वशः (५) पूर्ववत् सनः (६)॥

श्लोकका अर्थ इस प्रकार है : कोई पुरुष किसी बालकके पितासे उसके पुत्रके बारेमें पूछ रहा है कि 'बालकका आचरण कैसा है, जीविका कैसे चलाता है, आज्ञापालक है या नहीं ? आदि। पिता वैयाकरण ठहरा ! वह पाणिनिसूत्रोंमें ही इसका उत्तर देरहा है ! स्पष्ट है कि इस प्रसंगमें सूत्रोंका मौलिक शब्दार्थ यहाँ अभीष्ट नहीं। वह कहता है :

'मेरा बेटा पक्षी, मछली और मृगोंकी हत्या करता है; लोगोंको रास्तेमें रोककर लूटता है; बुद्धि-वैभव न होनेपर भी शरीर-श्रम द्वारा जीविका चलाता है और इसी कारण वह पूर्ववत् बड़ोंकी आज्ञा नहीं मनाता—हमारे कहेसे बाहर हो गया है !, व्याकरणके सूत्रोंका जैसे-के-तैसे उठाकर अपना अभीष्ट अर्थ प्रस्तुत करनेमें कविकी यह अनूठी सूझ सचमुच कौतुकास्पद है ! (क्रमशः)

मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महान् पुरुषोंका साथ

श्रीहरिकिशनदास अग्रवाल

किसीने एक महापुरुषसे पूछा कि मनुष्य जन्ममें उन्नति कैसे हो ? महापुरुषने उत्तर दिया कि मनुष्य जन्म ही एक उन्नति है। जो यह बात समझ ले उसकी अवश्य उन्नति होती है, वह मनुष्य जन्मकी महत्ताको समझता है। मनुष्य-जन्म मोक्षका साधन है।

मनुष्य जन्ममें ही ईश्वरने इसे विवेकवती बुद्धि दी है; जिससे कि यह गुह्यसे गुह्य लक्ष्यकी प्राप्ति सरलतापूर्वक कर सकता है। मनुष्यकी अपनी बुद्धि उसकी लक्ष्य-प्राप्तिमें साधक भी है और बाधक भी। अगर मनुष्य बुद्धिका विवेकपूर्वक सदुपयोग करता है और बुद्धि मनको संचालित करती है, सत्-असत्का, शुचि-अशुचिका विवेक करती है तो; वह बुद्धि लक्ष्य प्राप्तिमें साधक है और जिस बुद्धिमें विवेक नहीं, शम-दम नहीं, वह बुद्धि मनके अधीन होनेसे खिन्नताको प्राप्त होती है जिसके कारण संसारी लोग दुःखी होते हैं। यों तो दुःख नामकी कोई वस्तु नहीं। दुःखका रूप-रंग नहीं, माप-तौल नहीं, मान प्रमाण नहीं—किन्तु फिर भी दुःखकी जो अनुभूति होती है, वह केवल कल्पनामात्र है।

जैसे कि राग-द्वेषके परिणामस्वरूप किसीके प्रति दुश्मनी भाव मनुष्यके अपने ही मनकी कल्पना है। दुश्मन नामकी कोई चीज नहीं। मनुष्य अपना ही दुर्मनी भाव दुश्मन करके दूसरेके अन्दर दुश्मनीकी कल्पना करता है।

विवेकती बुद्धि राग-द्वेष, अभिनिवेश इत्यादिमें नहीं पड़ती, वह तत्त्वको ग्रहण करना चाहती है। मनुष्यकी बुद्धि जब सम हो जाती है, तो उसके अन्दर आत्मानन्दका प्रतिबिम्ब पड़े बिना रहता नहीं। जैसे कि शुद्ध कांचके अन्दर प्रतिबिम्ब पड़े बिना रहता नहीं। प्रतिबिम्ब ग्रहण करना कांचका धर्म है। आत्मानंदको ग्रहण करना शुद्ध-बुद्धिका धर्म है। आत्मा हमसे कभी जुदा हुआ नहीं। केवल हमें आत्माके जुदा होनेकी भ्रान्ति है। हम समझते हैं कि हम पापी, कुटिल, खल, कामी उस परम तत्त्वकी प्राप्ति कैसे कर सकते हैं— यही हीनत्वकी भावना हमारे लक्ष्य-प्राप्तिमें बाधक है। मनुष्य न नीचे उतरकर हीनत्वकी भावनाको प्राप्त हो और न आसमानमें चढ़कर अहंकारी बन जाय–वह जैसा है—वैसा ही अपनेको जाननेकी चेष्टा करे–कुछ बननेकी चेष्टा न करे। कुछ बननेकी चेष्टा ही मनुष्य-को अपने लक्ष्य से च्युत कर देती है।

मनुष्य समझता है कि मैं योगी संन्यासी तपस्वी बन जाऊंगा तब आत्मप्राप्ति कर सकूंगा, ऐसी भावना मनुष्यके जीवनमें वर्तमानको तो ठुकरा देती है और भविष्य हाथमें आता नहीं जिससे जीवन व्यर्थमें चला जाता है।

मनुष्य जीवनके साथ-साथ अगर मुमुक्षुता हो तो वह सोनेमें सुहागेका काम करती है। मनुष्यको पचास प्रतिशत सफलता तो मनुष्य जन्म होनेसे ही मिल जाती है। पचीस प्रतिशत सफलता मनुष्यको उसकी जिज्ञासा मुमुक्षुता दिला देती है। और पचीस प्रतिशत सफलता जब किसी महापुरुष गुरु, संत, महात्मा से सम्पर्क हो जाता है और वे सही रास्ता बता देते हैं तब पूरी अर्थात् शत प्रतिशत सफलता मिल जाती है।

ईश्वरने मनुष्यका आकार ऐसा बनाया है कि यह चलता भी आगे

है और देवता भी आगे है, आगेको सोचना इसका परम धर्म है। पशुओंकी आंखे नीचे पेटकी ओर होती हैं; वे अपने पेटको ओर ही देखने हैं दूसरेके पेटका ध्यान नहीं रखते। अपने स्वार्थकी ही सोचते हैं। किन्तु मनुष्य ही एक ऐसा है कि वह परमार्थको सोचता है समाजमें रहता हुआ समाजके साथ एकत्व प्राप्त करता है। वह समाजका ऋणी है, उसका ऋण चुकाना अपना धर्म समझता है। वह परमानंदकी प्राप्तिके उपाय करता है। जिससे बार-बार उसे गर्भमें न आना पड़े। जो लोग समाजसे लेते ही लेते हैं कुछ देते नहीं वे समाजके ऋणी हैं। खान, पान, साक, सब्जी, कपड़ा, फर्नीचर, मकान आदि सब उन्हें समाजसे प्राप्त होता है। यह सब प्राप्त करके अगर हम उसका बदला नहीं चुकाते अर्थात् समाजको सेवा नहीं करते तो हम कर्तव्यसे च्युत हो जाते हैं।

ईश्वरने मनुष्यको ही एक ऐसा बनाया है जो कि प्रसन्नतापूर्वक हंसता है और दूसरोंको भी हंसाता है; किन्तु किसी पशु-पक्षीके भाग्यमें प्रसन्नतापूर्वक हंसना नहीं। मनुष्यको ईश्वरकी यह कितनी बड़ी देन है। जो कि मनुष्य जन्ममें ही प्राप्त है। मनुष्य जन्म अद्भुत है। इसको प्राप्त करके जो इसका सदुपयोग नहीं करता और अपने लक्ष्य प्राप्तिमें अग्रसर नहीं होता, वह मूढ़ है। जिस प्रकार किसी गन्तव्य स्थान तक पहुंचनेके लिए हम कारसे यात्रा करते हैं। यदि हम उस कारका सदुपयोग करना नहीं जानते तो हम ऐसी दुर्घटनाको प्राप्त होते हैं कि जीवनको हो हाथसे खो बैठते हैं। इसी प्रकार मनुष्य जन्म प्राप्त करके जो मूढ़ प्राणी विवेकपूर्वक इसका सदुपयोग करना नहीं जानते वह जीवनको व्यर्थमें ही, बिना लक्ष्य प्राप्तिके खो देते हैं।

खान-पान, भय-निद्रा, मैथुन आदि तो पशुओंमें भी है इन्हींमें जीवन व्यतीत कर देना—यह मनुष्य जीवनकी विशेषता नहीं।

[मनुष्यत्व मुमुक्षुत्व और महान् पुरुषोंका साथ]

मनुष्य जीवनकी विशेषता इसीमें हैं कि जिज्ञासा सहित विवेक-पूर्वक चलते हुए मनुष्य अपने लक्ष्यकी प्राप्ति करे। लक्ष्य प्राप्तिके लिए जिज्ञासाका होना परमावश्यक है। बिना जिज्ञासा कोई भी मनुष्य अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकता। जिज्ञासासे ही मनुष्य सत्-पुरुषोंका संग करता है। जिसके जिज्ञासा नहीं वह सत् पुरुषोंका संग ही नहीं करता; किन्तु कुसंगमें पड़कर अपने जीवनको निर्जीव बना देता है। जिस विद्यार्थीकी एम० ए० पास करनेकी इच्छा होगी; वही एम० ए० तक पहुँच सकता है। जिसकी रच्छा ही पढ़नेकी नहीं वह एम० ए० क्या पास करेगा। इसलिये बहुतसे विद्यार्थी इच्छा न होनेके कारण बीचमें ही रह जाते हैं। इसी प्रकार जिज्ञासाहीन मनुष्य लक्ष्यको प्राप्त न कर बीचमें ही रह जाते हैं।

मनुष्य जन्म हो, जिज्ञासा हो व साथमें श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुका संग मिल जाय तो मनुष्यके रास्तेमें कोई रुकावट नहीं ठहरती। क्योंकि सारी कृपाएँ आकर इकट्ठी हो जाती हैं। मनुष्य जन्मका मिलना ईश्वरकी कृपा है, जिज्ञासा होना मनुष्यकी अपनी कृपा है, किसी महान् पुरुषका मिलना गुरु-कृपा है और महान् पुरुषोंके सम्पर्कसे शास्त्रोंका पठन-पाठन होना शास्त्र-कृपा है। जब ये चारों कृपाएं इकट्ठी हो जाती हैं तो मनुष्यके जीवनमें किसी प्रकारकी विघ्न बाधा ठहर न सकहींती और मनुष्य जीवन सार्थक हो जाता है। ० ० ०
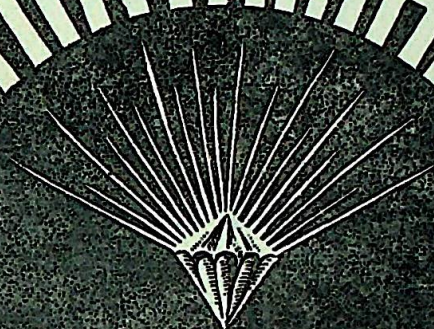
Sat SahitYa Prakashan Trust
VIPUL
24/19 RIDGE ROAD, BOMBAY-6

CHINTAMANI

Images Leading to Self-Realization

—Swami Akhandanananda Saraswati

How are we attracted towards images ? How have we gradually developed an abiding interest in their worship ? It is thus. Our ideas paved the link between God and the image. God was projected on the image and subsequently the image became God, while it goes without saying He is our veritable Self. When we earnestly try to understand conceptual evaluation involved in image-worship, we are amazed to arrive at a wonderful unity of the Self (Atman) and the Absolute (Brahman). It is marvellous to observe how the indi visible self expresses itself both as the world of perception and the percipient and the individual Self and the empirical world·

THE PRASAD

Initially one develops delight in the sweetness of the *prasad* given in the temple. One is further attracted to the temple desiring to escape some trials and tribulations and to achieve some desired end. Also it is not unusual to long for the successful completion of a ventured enterprise and its accompanying glory to get established in reputation. For that also one finds image-worship an effective means.- It is also very common that

many people visit the temple out of their respect to follow the good example of elderly scholars. In all these stages one implicitly believes in the potency of these promptings. In all such cases, one's devout presence gets consequently rewarded by the *prasad* in its gross or subtle form. From such *prasad* we get benefits ranging from the taste of the tongue to the purity of the mind as well as the certitude of the intellect.

THE SCEPTICS

With urban influence came critical sceptics. They began to shout "Stone Gods and Stone Temples ! Alas !! Every thing has gone to pieces !!! What kind of God is this ?" The Sceptics should know that there is God in these Stones also, because God is everywhere. The inexpressible God has become expressed in the image through art, ritual, injunctions, imaginations, ''fa reason. In the Linga one can cognize the Primordial cause, the abiding presence of God (ISWARA), the Principle of manifestation (Prakriti) and the non-duality of the Absolute (Ekam Evam Adwitiyam). One really enters his self by visiting temples. In the temple one observes God by having the *Darshan* of the image. He experiences the complete dedication of the whole world to God by looking at the worship. The individual is a manifestation of God. The finitude of the ego is unreal. It functions diversely; for God alone exists. Divorced from God nothing exists.

THE REAL WORSHIP

When as oblation we offer leaves, flowers, sandal pastes,

etc. we offer the very quintessence of the physical Universe, each of which possesses characteristics of beauty or intrinsic value to make such oblations sufficiently worthy. If the worship is motivated by any selfish desire or any material gain, it is not praise-worthy, but if the motive covers the welfare of the entire world and is aimed at the realization of the supreme joy of the Self, then it is a real and perfect worship.

ART IN DIFFERENT FORMS

Worship even in ignorance may also become creditable if it brings in its chain even an iota of self-realization. If an act of worship brings peace and joy nobody would call such an experience the fruit of ignorance. On the contrary, it disseminates knowledge. Therefore, Dharma (right living), Upasana (devotional adoration) and Yoga (diabolical adherence to non-dual life) are not mere activities. They are differerent aspects of superior art. The very foundation of a perect life is implied in such an art. Real Dharma is the art of establishing perfect harmony between the perceptual and the functional aspects of life. The art of annihilating attachment (Raga) and hatred (Dwesh) is Upasana. Quieting the mind by eradicating the modes of mind is the art of Yoga.

THE USE OF ART

To bring the inexpressible aspects of the Absolute in a form which makes it easy for the mind to grasp it by gross representation is the use of art. Thus art ultimately will help us to cognize the subtle, the subtler and the subtlest aspects of the

Absolute and also to present them in this ingenious way to the masses. Art alone gives form to the abstract. The subtle idea that takes shape in the mind is transferred to characteristic impressions of behavioural pattern through art. Thus that which was primarily accessible only to the inner eye, becomes the object for the outer eye too. When our eyes are turned towards the idea depicted in the form of the image, they go beyond the superficial form and comprehend the imperishable, formless, modeless aspect of reality common to the perceptual mind. This is the great potentiality of art. What is subjective for the artist, becomes objective in his art.

ART HELPS REALIZATION

I have no hesitation to say that sculpture and other forms of temple-art go a long way to help people to realize the Absolute which is otherwise impossible to grasp. The nature of the carnal aspect of the Absolute is dormant like the subtle form of the plant lying hidden in the seed before germination. This is evident in the Shiva Linga.

SRI JAGANNATHJI

The very first day when I saw at Kashi, Jagannath represented by a piece of stone without head or limbs, I was overjoyed and was struck with wonder. To me this gave, in all eloquence, the Absolute transcendence of name, form and action which is the purest state of Parabrahman. This great state of inaction is also implied in the reclining imagery of Mahavishnu (as depicted in the Anantasayana of Sri Padmanabha). Such wonderful ideas of the inconceivable Absolute are so masterly

depicted in the various images by artists who could penetrate into the very depth of the LINGUA MYSTICA.

ART PURIFIES LIFE

The sublimity of such art can be fully appreciated only by those who could have the perfection of their own ideas with regard to the Absolute. This great legacy of our spiritual tradition helps us in purifying our own life without deviating from the performance of our assigned duties, by living a life in adoration of the Absolute. A serious appreciation of the same is likely to give our mind a true discipline of dialectics which is sure to efface all Socio-Psychological conditionings which come in our way of realization. The art and architecture of temples are nothing but profound aesthetic expressions of wisdom. Though this art is universal in it's application, it is worth mentioning that India towers above great civilizations of the past in her iconographic culture.

TEMPLE IMAGERY

At a time when the secret language of tradition is almost lost, it is very heartening to see the laudable effort of my dear friend Yati Nityachaitanya that throws some light to decipher the secrets of mystic India and her temple imagery. This noble effort is something which has been long awaited. Ours is an age, when people spend all their time and energy to accumulate material values in life. Such instances are very rare when some body of real worth gets out of this madding crowd of ignoble strife to spend his time and energy for the proper assessment of the spiritual values. By such a revaluation of religion when expressed clearly to the masses the spiritual attainment of one goes to the benefit of the multitude. There is no other activity greater than this to a wise man.

o o o

The Holy Mother Shakti

—N. L. Saraf

In the annals of Aryan Culture and Religion, the Worship of the Mother, dominated the life of the humble and the exalted ones. At present also, Durga–Puja–Festival is celebrated with supreme devotion and dedication.

The Aryan Conquest of the aborigines of India, had been a land-mark in the expansion of Aryan Civilization. In those days, the aborigines were called. 'Asuras' and the Aryan were known as 'Devas' The Dravidians were very strong and enlightened. Once they were able to defeat the Aryans. But the Aryan Leaders did not lose heart. They met together and re-organised their forces and decided that combined effort alone might lead to success and the final subjugation of the 'Asura' In fact, this was an attempt towards unity and integration which are even today the vital need of the country. So, the Aryans forged their combined might in the form of Durga, the Mother, who killed Mahishasur, the evil monster.

GOOD AND EVIL

From times immemorial, there has been a fight between the good and evil. If you look at the image of Durga you will find the images of Laxmi and Saraswati standing on the right and left of the main deity. Laxmi denotes the power of wealth and Saraswati points intellectual might, which is displayed

in arts and crafts. Durga represents the united strength and energy which we notice in all forms of creations. It is in this sense that Durga is the incarnation of "SHAKTI", the power of the lord of creation, the Vishwanath.

DURGA: A SYMBOL COURAGE

Mother Durga, is also known as the goddess of vegetation and is worshipped by the people at the end of Kharif and Rabi crops in October and March every year. The Mother, the image of heroism, beauty and blessing, rides on ferocious lion which is the fiery symbol of courage, strength and fearlessness.

But these qualities and forces alone were not sufficient to kill the evil, the Mahishasur Danava. Therefore, it was deemed necessary to have a leader and a Commander. Thus, we find Lord Ganesh and Kartikeya with the Mother Durga, who with the co-operation and co-ordination of the above mentioned powers defeated the evil forces and protected and upheld the Aryan ideals and ways of life.

DASHERA FESTIVAL

Dashera Festival is one of the four national festivals. It is celebrated throughout the country. Although, every ruling prince of Indian States, has been taking a leading part with traditional and profound interest in the Dashera celebrations, the Mysore, Calcutta and Delhi celebrations top the list.

The Goddess Durga is worshipped in different forms, from Kashmir to Kanya Kumari and Bombay to Assam, through the length and breadth of this sub-continent. In Kashmir, KHIR BHAWANI' is the well-known place of

pilgrimage, where Swami Vivekananda got enlightenment.

Jwalamukhi in Punjab and Vindhyawasini in Utter Pradesh are the other attractions for the devout piligrims. In the west, Karni Devi and in the East Kalighat and Kamakhya are the main centres of Mother-worship. The Meenakshi Temple in the South, is still a great centre of tourism. Besides these, every village in India has a 'KHERMAI' (The Village mother), where the holy Mother is worshipped in the form of "JAWARA" the symbol of vege-, tation, with full festivities twice in the year when the fields are full with ripe crops and the hope of happy and prosperous life is bright.

NEW ACTIVITIES

In an agricultural country like India, social life becomes almost stagnant due to heavy rains and lack of transport facilities during the rainy season from July to September. Dashera Festival opens up new fields of activities all over the country and provides occassions for exchange of goods and thus money is circulated benefitting all classes of Indian Society.

This festival is attributed to the Kshatriyas, who started their triumphal march for conquest and glory. This event is repeated every year in the form of the Ramlila procession of the triumphal march of Ram after killing Rawan, the embodiment of evil. During Durga Puja, people worship the Mother with full religious fervour and ceremony. The young and the old co-operate with one another and contribute towards decorations, and cultural programmes.

UNITY IN DIVERSITY

The Indian people are a glowing example of unity in

[Continued on page 144]

INFLUENCE OF FOOD ON MIND

—Late SWAMI SIVANAND ITAWSARAS

Food plays an important role in meditation. Different foods produce different effects—in different compartments of the brain.

Spiced dishes, sour things, black gram, onions, garlic, tea, wine, fish, meat etc. excite passions and emotions and should be avoided. They should be particularly avoided by Sadhakas.

Heavy food brings TANDRA and ALASYA (*Drowsiness* and laziness). For purposes of meditation the food must be light, sattvic and nutritious.

Food exercises important influence on the mind. You see it obviously every day. It is very difficult to control the mind after a heavy, sumptuous, indigestible, rich meal. The mind runs, wanders and jumps like a monkey all the time. Alcool causes tremendous excitement of the mind.

Milk, ftuits, almonds, sugar-candy, butter, green gram, Bengal gram (CHENAI) soaked in water overnight, bread, etc. are all helpful in meditation.

THED, a kind of kandamula, helps in meditation.

Tea should be given up. It destroys VIRYA. Sugar must be taken in moderation. It is better if it is given up. Sunthi-seven (taking powder of dried ginger) is very good for aspirants. It can be taken alongwith milk. It removes wind and helps digestion. Yogis take it very often. Triphala (the three myrobalans) also is taken by Yogis. It removes constipation, cools the system and stops wet-dreams. Myrobalan or Haritaki (HARAH of the yellow kind) can be chewed by Yogic practitioners very often. It preserves semen and checks nocturnal discharges. Potatoes boiled without salt or burnt in fire are very good.

Evolution is better than revolution. Do not make sudden changes in anything, particularly in food. Let the change be gradual. The system should accomodate it without any hitch.

THE PATH OF AHIMSA

—M. K. Gandhi

The path of truth is as narrow as it is straight. Even so is that of *Ahimsa*. It is like balancing oneself on the edge of a sword. By concentration an acrobat can walk on a rope. But the concentration required to tread the path of Truth and Ahimsa, is far greater. The slightest inattention brings one tumbling to the ground. One can realize Truth and Ahimsa only by ceaseless striving.

SEEKER'S DIFFICULTY

It appears that the impossibility of full realization of Truth in this mortal body led some ancient seeker after Truth to the appreciation of Ahimsa. The question which confronted him was: "Shall I bear with those who create difficulties for me or shall I destroy them?" The seeker realized that he who went on destroying others did not make headway but simply stayed where he was, while the man who suffered those who created difficulties marched ahead, and, at times, even took the others with him. The first act of destruction taught him that the Truth, which was the object of his quest, was not outside himself, but within. Hence, the more he took to violence, the more he receded from Truth. For, in fighting the imagined enemy without, he neglected the enemy within.

OUR KITH AND KIN

We punish thieves, because we think they harass us. They may leave us alone; but they will only transfer their attentions to another victim. This other victim, however,

is also a human being, ourselves in a different form, and so we are caught in a vicious circle. The trouble from thieves continues to increase, as they think it is their business to steal. In the end, we see that it is better to endure the thieves than to punish them. The forbearance may even bring them to their senses. By enduring them we realize that thieves are not different from ourselves, they are our brethren, our friends, and may not be punished. But whilst we may bear with the thieves, we may not endure the infliction. That would only induce cowardice. So, we realize a further duty. Since we regard the thieves as our kith and kin, they must be made to realize the kinship. And so we must take pains to devise ways and means of winning them over.

This is the path of Ahimsa. It may entail continuous suffering and the cultivating of endless patience. Given these two conditions, the thief is bound, in the end, to turn away from his evil ways. Thus, step by step, we learn how to make friends with all the world, we realize the greatness of God of Truth. Our peace of mind increases inspite of suffering; we become braver and more enterprising; we understand more clearly the difference between what is ever-lasting and what is not; we learn how to distinguish between what is our duty and what is not. Our pride melts away, and we become humble. Our worldly attachments diminish, and the evil within us diminishes from day to day.

VIOLATION OF AHIMSA

Ahimsa is not the crude thing it has been made to appear. Not to hurt any

liv-ing thing is no doubt a part of Ahimsa. But it is its least expression. The principle of Ahimsa is hurt by every evil thought, by undue haste, by lying, by hatred, by wishing ill to anybody. It is also violated by our holding on to what the world needs. Realizing ihe limitations of the flesh, we must strike day by day towards the ideal with what strength we have in us.

TWO SIDES OF A COIN

So without Ahimsa it is not possible to seek and find Truth. Ahimsa and Truth are so intertwined that it is practically impossible to disentangle and separate them. They are like the two sides of a coin. Ahimsa is the means, Truth is the end. Means to be means must always be within reach, and so Ahimsa is our supreme duty. It we take care of the means, we are bound to reach the end sooner or later. Whatever difficulties we encounter, what ever apparent reverses we sustain, we may not give up the quest for Truth which alone is, being God Himself.

o o o

The Secret of Happiness

—Sadhu T. L. Vaswani.

We live in an Economic Age. Every where there is a scramble for wealth. I say to you:—'Gather money,—of a nobler kind !'

In America there was a multi-millionnaire named Barton. He committed suicide. The Police after investigation, found a lettcr on the table of Barton. In this letter Barton wrote that he had gathered gold in plenty, but he was unhappy, and therefore he was committing suicide.

I do not wish to speak much, or I would enter into an analysis of the life of the West and show how the civilization of the West is committing suicide. And you, in this country are imitating this civilization ! The West is not happy with this wealh. And you will never be happy with wealth. Yet I ask you to be wealthy ! I, a Fakir, ask you today to gather gold,—the gold of the saints.

This gold is GARIBI (Poverty). Blessed are the poor in spirit,—said Jesus.

The West is unhappy, for it has forgotten the inner and embraced "externality". Visiting the West, years ago, I asked :—"Where is fredom in the West ?" You imitate the West, and you are unhappy·

If you would be happy. gather the wealth of GARIBI, self-surrender to the Lord . Where there is no surrender there are discussions and dissensions.

In the name of service, today, there are so many

controversies. The greatest malady of our days is egoism, pride. People want offices everywhere. But a true servent wants to seıve. How difficult to practise self-effacement !

Hanuman had this true wealth. Once Sri Rama said to Hanuman :—"What is your wish ?"

And Hanuman answered :– "Master, thy wish is mine !"

Sri Rama said :—"Would you have SWARGA (Paradise) ?

Hanuman said :—"Lord, send me to SWARGA (heaven) or NARKA (Hell), but grant me the strength to do Thy Will !!!"

Doing the Will of the Lord, self–surrender, SARNAGATI, –there is the secret of happiness.

India is unhappy, for two brothers do not unite. We lack discipline in our institutions. There are quarrels, for our minds are infected with egoism. "Renounce the pride of the mind", says Kabir. Renounce egoism. Take refuge at the feet of the saints ! Accept His Will ! Be SIPAHIS (Volunteers) in the Army of the SATGURU. Be SIPAHIS and be blessed.

(THE HOLY MOTHER SHAKTI)

diversity. Our Society is a bunch of castes, creeds and languages. But, Dashera has a great unifying effect on the common people. They sink their differences and become one with the common festivities and functions. Thousands of people march together in long procession with heroic zeal, gaiety and colourful dresses.

Lastly, Dashera presents occasion and opportunity for personal contacts under–standing and people practise "forgive and forget" and embrace each other. And thus continues our social life with fresh cordiality with the blessings of the Mother.

મંગલ દિવસો ની
શુભેચ્છાઓ

યુનિકેમ
લેબોરેટરીઝ લિ.
મુંબઈ ૬૦ • ગાઝીઆબાદ (યુ.પી.)

THE BANK OF INDIA LTD.

RAAS/P/23

"ॐ भूरसि भूमिरस्यदितिरसि
विश्वधाया विश्वस्य भुवनस्य धर्त्री ।
पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृंह पृथिवीं मा हिंसीः ॥"

यजुर्वेद १३।१८

"हे बड़ी माँ ! तुम सम्पूर्ण सुखोंकी दाता हो। तुम्हारा स्वरूप विशाल है। तुम स्वयं देवता हो और देवताओंकी माता हो। तुम सम्पूर्ण विश्वको अपने उदरमें धारण करती हो और उसका भरण-पोषण करती हो। सब प्राणी तुम्हारी गोदमें रहकर तुम्हारा ही दूध पीते हैं। तुम अपनी विशालताको और बढ़ाओ, अपनेको और दृढ़ करो और अपने-आपको कभी क्षीण मत करो।"

सत्साहित्य पढ़िये

माण्डूक्यप्रवचन	... ...	६.००
गोपीगीत	... ...	३.५०
नारदभक्तिदर्शन	...	३.५०
भक्तिरहस्य	... ... (अप्राप्य)	२.००
सत्सङ्ग साधन और फल	... ... (अप्राप्य)	२.००
श्रीमद्भागवतरहस्य	... ...	२.५०
सुगम भक्तिमार्ग	... ...	२.००
भगवान्के पाँच अवतार	... ...	२.००
ईशावास्यप्रवचन	... ...	१.२५
पुरुषोत्तमयोग	... ...	२.५०
भक्तियोग	... ...	४.५०
सांख्ययोग	... ...	५.००
आनन्दवाणी भाग १-२	... ... (अप्राप्य)	०.५० प्रति
आनन्दवाणी भाग ३ से १० तक	...	१.०० प्रति
महाराजश्रीका एक परिचय (द्वि. सं.)	...	०.५०
मोहनती मोहिनी	... ... [गुजराती]	०.५०
चरित्रनिर्माण आणि ब्रह्मज्ञान	... [मराठी]	१.००
श्रीमद्भागवतरहय	... ... [सिन्धी]	२.००
महाराजश्रीका एक परिचय	... [,,]	०.२५

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल'

२८/१६ रिजरोड, मलाबारहिल

बम्बई—६

॥ श्रीहरिः ॥

आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्, दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्ध्रिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु, फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्। —यजुर्वेद २२।२२

"हे परमेश्वर! हमारे राष्ट्रमें सर्वत्र ब्रह्मतेज-सम्पन्न ब्राह्मण जन्म लें। अस्त्र-शस्त्र विद्यामें निपुण, शत्रुको भलीभाँति पीडित करनेवाले महारथी क्षत्रिय उत्पन्न हों। इस यजमानकी गौएँ दूध देनेवाली हों, बैल भार वहन करनेवाले और अश्व शीघ्रागामी हों। स्त्री सर्वगुण-सम्पन्न तथा रथमें बैठनेवाले पुरुष विजयशील हों। हमारे घरमें शूरवीर युवा पुत्र हो। मेघ हमारी इच्छानुसार वर्षा कर। ओषधियाँ परिपक्व एवं फलवती हों। हमें योग्य अर्थात् अलब्धका लाभ और क्षेम अर्थात् प्राप्तका संरक्षण प्राप्त हो।"

चिन्तामणि रजि० सं० एल० ६९९

सत्साहित्य प्रकाशनट्रस्ट, बम्बईके लिए विश्वम्भरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित एवं प्रकाशित तथा आनन्द कानन प्रेस, सी. के. ३६/२० वाराणसीमें मुद्रित।